वर्ष–4, अंक–12
इंटरनेट संस्करण : 99

पत्रिका गर्भनाल

प्रवासी भारतीयों की मासिक पत्रिका

ISSN 2249–5967
फरवरी 2015

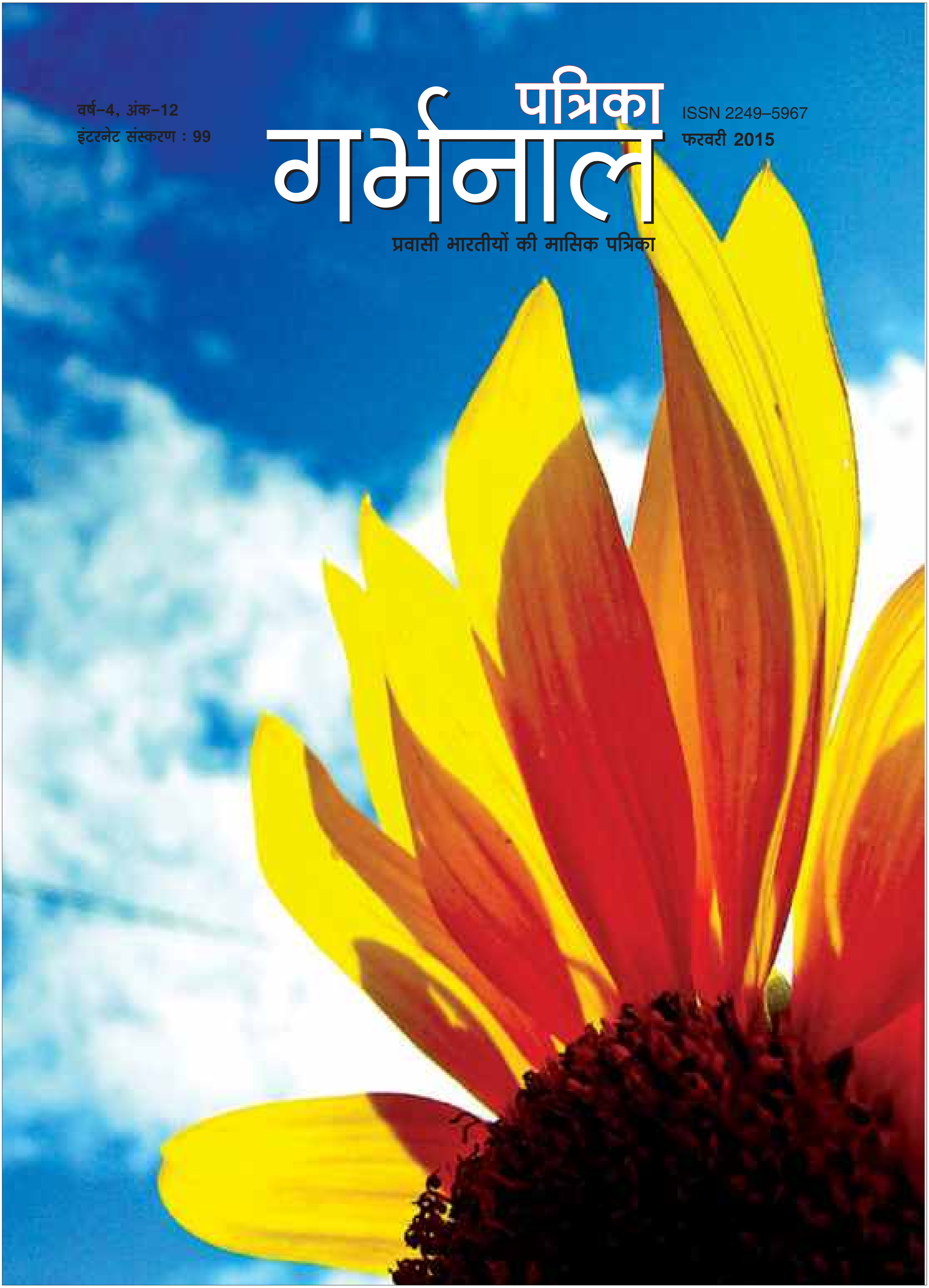

पत्रिका
गर्भनाल

वर्ष-4, अंक-12 (इंटरनेट संस्करण : 99)
फरवरी 2015

सम्पादकीय सलाहकार
गंगानन्द झा

परामर्श मंडल
डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
देवेश पंत, अमेरिका
उमेश ताम्बी, अमेरिका
आशा मोर, ट्रिनिडाड
डॉ. अनिल विद्यालंकार, भारत
डॉ. ओम विकास, भारत

सम्पादक
सुषमा शर्मा

तकनीकि सहयोग
डॉ. राजीव यादव, न्यूयार्क

आकल्पन सहयोग
डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

कम्पोजिंग
प्रताप परिहार

कानूनी सलाहकार
संजीव जायसवाल

सम्पर्क
डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

आवरण छायाचित्र
कौस्तुभ मित्रा

प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, जरूरी नहीं है कि सम्पादक इससे सहमत हों. विवाद की स्थिति में केवल भोपाल न्यायालय क्षेत्र ही रहेगा.

>>8
रोमन हिंदी और हिंगलिश

>> 13
ख्याल हिंदी की बिंदी का

>>41
बुढ़ापे की सिहरनों में सुख

>>45
गाँधी विचार की विदाई

इस अंक में

अपनी बात : गंगानन्द झा 2

मन की बात : अजय कुलश्रेष्ठ 4
डॉ. अल्का आत्रेय चूडाल 8
बी.एन. गोयल 9
राजेश करमहे 13
डॉ. दरीगा कोकऐवा 17

गुजरा ज़माना : रमेश तैलंग 22

रम्य-रचना : सुधा दीक्षित 25

ज़न्नत की हकीकत : रमेश जोशी 30

कोरिया की डायरी : विजया सती 32

पिट्सबर्ग की डायरी : अनुराग शर्मा 35

सिंगापुर की डायरी : सन्ध्या सिंह 36

चीन की डायरी : डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा 38

नीदरलैंड की डायरी : प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी 41

विचार : अपूर्वानंद 45

परख : प्रभु जोशी 48

नजरिया : उदयन वाजपेयी 52

हमारा समय : ध्रुव शुक्ल 54

व्याख्या : मनोज कुमार श्रीवास्तव 56

मंथन : भूपेन्द्र कुमार दवे 62

महाभारत : 64

वेद की कविता : प्रभुदयाल मिश्र 67

कविता : उमेश ताम्बी 68
वाणी मुरारका 69
निहार रंजन 70
डॉ. मुकेश कुमार 72

शायरी की बात : नीरज गोस्वामी 74

आपकी बात : 75

आख़िरी बात : आत्माराम शर्मा 76

अपनी बात

प्राचीन देश से आया एक मुसाफिर मिला,
उसने कहा,
पत्थर की दो धड़रहित टाँगे रेगिस्तान में खड़ी हैं,
बालू में आधा धँसा हुआ एक विध्वस्त मुख पड़ा हुआ है,
उसके तेवर
और झुर्रीदार ओंठ तथा उदासीन आदेश की अवज्ञा
कह रही हैं कि भास्कर ने उन आवेगों को पढ़ा था
जो इन प्राणहीन वस्तुओं में अंकित होकर जीवित हैं
जिन हाथों ने उनका उपहास किया और वह हृदय जिसने इन्हें खिलाया
मूर्तितल पर ये शब्द उभड़े हुए हैं
मेरा नाम ऑज़ायमैण्डियास, राजाओं का राजा, है
मेरी कृतियाँ देखो और हताश हो जाओ, पीछे कुछ भी नहीं बचता
उस प्रकांड भग्नावशेष मलबे के चारों ओर
असीम और नंगा एकाकी और सपाट बालू
दूर-दूर तक फैली हुई है।

— ऑज़ियामैण्डियासस (१८१७)

मूल अंगरेजी से अनुवादित।
(ऑज़िमैंडियास अंगरेजी के उन्नीसवीं शताब्दी के कवि शेली की एक कविता का शीर्षक है।)

कविता में वाचक प्राचीन सभ्यताओं के देश मिस्र से लौटे यायावर से मुलाकात का जिक्र करता है। यायावर रेगिस्तान के मध्य में एक भग्न मूर्ति की चर्चा करता है। मूर्ति टूट गई है, पर उसके चेहरे की अभिव्यक्ति अभी भी स्पष्ट हैं। चेहरा कड़क शासक की तरह शक्तिशाली प्रतीत होता है। शासक दुष्ट होते हुए भी प्रजावत्सल था।

यायावर ने मूर्ति की पीठिका पर शिलालेख पढ़ा, जिसमें ऑज़ियामैण्डियास आने-जाने वाले पथिकों को कहता है- ‘मेरे चारों ओर देखो, कितने विस्मयकारी रूप से महिमामय हूँ मैं।’ लेकिन उसके महिमामय होने का कोई साक्ष्य अगल-बगल में नहीं है। दूर-दूर तक, जहाँ तक आँखें जा सकती हैं, बालू ही बालू फैला हुआ है।

इसमें एक विशाल एवम् समृद्ध साम्राज्य के भग्नावशेष का वर्णन है। एक समृद्ध एवम् शक्तिशाली साम्राज्य बालू के विस्तार में कैसे तब्दील हो गया? कठिन प्रयास से निर्मित की गई इन भव्य संरचनाओं को छोड़कर इनके महान निर्माता अन्तर्ध्यान हो गए।

भारतीय गणित का स्वर्णकाल, जिसने विश्व के गणित की शक्ल बदल दी, मोटा-मोटी रूप में पाँचवीं से बारहवी शताब्दी तक का कालखण्ड था और उसकी शुरुआत प्रत्यक्षतः उस ज्ञान से प्रेरित थी, जो हम भारतीय बैबिलॉन, यूनान और रोम में हो रहे काम से सीख रहे थे।

हम कोलकाता के अजायबघर गए थे। वहां और वस्तुओं के अलावे एक मिस्र की पाँच हजार साल पहले की एक ममी देखी तो मानव समाज और सभ्यता के लम्बे एवम् जटिल सफर और चढ़ाव उतार की तस्वीरें चेतना में उभड़ने लगीं। यह ममी सुदूर अतीत में एक विकसित सभ्यता के अस्तित्व की गवाही दे रही थी। प्राचीन मिस्र एवम् मेसोपाटामिया के समसामयिक सिन्धु घाटी की सभ्यता के भग्नावशेषों के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका की सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत ऐनासाज़ी तथा कैहोकिया, मध्य अमेरिका के माया नगर, दक्षिण अमेरिका में मॉशे तथा तिवानाकु, अफ्रीका में ग्रेट ज़ाम्बिबिया विलुप्त हुई सभ्यताओं के कई एक उदाहरण हैं।

प्राचीन भारत की उपलब्धियाँ अपनी समसामयिक सभ्यताओं से विच्छिन्न नहीं थीं। जैसा अमर्त्य सेन ने लिखा है, भारतीय गणित का स्वर्णकाल, जिसने विश्व के गणित की शक्ल बदल दी, मोटा-मोटी रूप में पाँचवीं से बारहवी शताब्दी तक का कालखण्ड था और उसकी शुरुआत प्रत्यक्षतः उस ज्ञान से प्रेरित थी, जो हम भारतीय बैबिलॉन, यूनान और रोम में हो रहे काम से सीख रहे थे।

इन सम्मोहक साक्ष्यों की विशालता और विविधता इनके निर्माताओं की समृद्धि और सम्पन्नता के साक्ष्य हैं, उनके अहंकार का आधार। फिर भी वे निर्माता इन महान संरचनाओं को छोड़कर विलुप्त हो गए। हैरत होती है कि ऐसी महान, समृद्ध और उन्नत सभ्यताएँ कैसे विलुप्त हो गई।

अतीत की ये आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ हम सबों के लिए एक रूमानी सम्मोहन हैं। बचपन में उन्हें तस्वीरों और वीडियो में देखकर हम मोहित होते रहते हैं। बड़े होने पर हममें से अनेकों प्रत्यक्ष रूप में सैलानियों के रूप में इनका अनुभव करने की योजनाएं बनाते हैं। उनके शानदार और मँड़रानेवाले सौन्दर्य एवम् रहस्य में निमग्न होते रहते हैं। सवाल घेरते हैं हमें कि इतनी शानदार उपलब्धियों एवम् सामर्थ्य के बावजूद वे अपने आपको कायम नहीं रख पाए? क्यों? हमारे वर्तमान और भविष्य के लिए इनकी क्या प्रासंगिकता हो सकती है?

अनुमान किया जाता है कि इन रहस्यमयी परित्यक्त संरचनाओं में से अनेकों के विनाश की शुरुआत पर्यावरणीय समस्याओं के कारण हुई थी। होमो सैपिऐंस (मनुष्य) ने आज से करीब पचास हजार साल पहले आविष्कारशीलता, दक्षता एवम् शिकार करने के हुनर विकसित किए। तभी से उसके लिए पर्यावरणीय निरंतरता बनाए रखना कठिन रहा है। लोग अनजाने अपने उन पर्यावरणीय संसाधनों का विनाश करते रहे, जिन पर उनकी सभ्यता एवम् समाज निर्भरशील थे।

हमारे विवेक का निर्माण अतीत के स्मृतिचारण से नहीं, वर्तमान एवम् भविष्य के दायित्वबोध से होता है। अतीत की उपलब्धियाँ इस दायित्व का भार वहन करने की ऊर्जा प्रदान करती हैं।

पुनरुत्थानवादी अतीत की सम्पत्ति, संस्कृति अथवा परम्परा को पुनर्जीवित कर भविष्य की तस्वीर बनाने की बात करते हैं, जबकि रिनासाँ अथवा नवजागरण अतीत की संस्कृति अथवा परम्परा को समय-समय पर के तजुर्बों और उपलब्धियों के आलोक में नवीकृत कर वर्तमान के सन्दर्भ में प्रासंगिकता प्रदान करता है। यह पर्यावरण के साथ अनुकूलन के महत्व को सम्मान देता है। ■

gangananand.jha@gmail.com

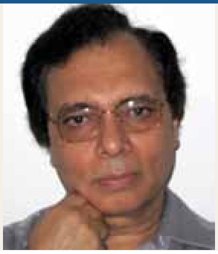

अजय कुलश्रेष्ठ

छह दशक पूर्व इटावा, उत्तरप्रदेश में जन्म। आई.आई.टी. दिल्ली से एम.एस.सी. करने के उपरान्त यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, लॉस एंजिलिस (U.C.L.A.) में चार वर्ष उच्चतर अध्ययन। सम्प्रति : यूनिवर्सिटी ऑफ सदर्न कैलीफोर्निया (U.S.C.) के सूचना प्रौद्योगिकी विभाग में कार्यरत।

सम्पर्क : सिमी वेली, कैलिफोर्निया। ईमेल - ajay@kulsh.com

मन की बात

भारत की भाषा-समस्या और समाधान

विश्व के तेजी से प्रगति कर रहे सभी विकासशील देश ऐसा, अंग्रेज़ी अपनाये बिना, निज भाषाओं के माध्यम से कर रहे हैं। भारत में स्थिति उल्टी है – यहाँ अंग्रेज़ी की जकड़ बढ़ रही है और भारतीय भाषायें चपरासियों की भाषायें हो चलीं हैं। इसका प्रमुख कारण है हमारी भाषाओं का आपसी वैमनस्य! इसके निराकरण के लिए, अच्छा हो, यदि सभी भारतीय भाषायें एक लिपि अपनायें जो वर्तमान विभिन्न लिपियों का मिला-जुला रूप हो। पर सबसे महत्वपूर्ण कदम होगा दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता। साथ ही हिन्दी के पाठ्यक्रम में दूसरी उत्तर-भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनायें जोड़ी जायें ताकि छात्र इन भाषाओं की निकटता से परिचित हों। वे भाषायें भी ऐसी ही नीति अपनायें।

अंग्रेज़ी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषा है पर वाइसरायों के जमाने से चला आ रहा हमारा आंग्ल-पाठ्यक्रम विवेकशून्य और आत्मघाती है। हम अंग्रेज़ी ऐसे पढ़ायें जैसे किसी भी अन्य देश में एक विदेशी भाषा पढ़ायी जाती है।

भारत को अपने व्यापक पिछड़ेपन से यदि कभी उबरना है, विभिन्न वर्गों की घोर असमानता यदि कभी कम करनी है तो जरूरी होगा कि हम एक आम आदमी को उसी की भाषा में शिक्षा और शासन दें – जैसा कि हर विकसित देश में होता है।

> *भारत में ऐसे 'जानकार' हर गली-नुक्कड़ पर मिलते हैं जो अंग्रेज़ी को प्रगति का पर्याय मानें। कोई उन्हें झकझोरे और बताये कि उन्नति का स्त्रोत आंग्ल भाषा नहीं, वह ज्ञान है जिसे अंग्रेज़ी से अनूदित कर जापान, कोरिया और चीन जैसे देश विकास करते हैं।*

भारत में ऐसे 'जानकार' हर गली-नुक्कड़ पर मिलते हैं जो अंग्रेज़ी को प्रगति का पर्याय मानें। कोई उन्हें झकझोरे और बताये कि उन्नति का स्त्रोत आंग्ल भाषा नहीं, वह ज्ञान है जिसे अंग्रेज़ी से अनूदित कर जापान, कोरिया और चीन जैसे देश जन-सामान्य तक पहुँचाते हैं, उसका विकास करते हैं और अपना विकास करते हैं।

क्या भारतीय भाषायें चीनी, जापानी आदि भाषाओं की तुलना में इतनी अक्षम हैं कि अंग्रेज़ी से अनुवाद न किया जा सके? स्वयं अंग्रेज़ी में निरन्तर पारिभाषिक शब्द गढ़े जाते हैं जो प्रायः ग्रीक और लेटिन भाषाओं पर आधारित होते हैं। संस्कृत का शब्द-भण्डार इन दो प्राचीन भाषाओं से अधिक समृद्ध है। हमें पारिभाषिक शब्द बनाने में कठिनाई क्यों हो? जापानी, कोरिआई आदि भाषाओं की तुलना में हमें अधिक सुभीता होना चाहिये।

सभी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति ब्राम्ही लिपि से हुयी है। यदि हम इस ब्राम्ही लिपि का ऐसा आधुनिक सरलीकरण और 'त्वरित उद्भव' करें कि वह प्रचिलित विभिन्न लिपियों का मिश्रज (hybrid) लगे तो उसे अपनाने में भिन्न भाषाओं को कम आपत्ति होगी।

पर किस भाषा में अनुवाद? यह 'अंग्रेज़ी की महत्ता क्यों और कितनी?' से भी बड़ा प्रश्न है – भारतीय भाषाओं के आपसी वैमनस्य के कारण। पहले इसका हल ढूँढें।

भारतीय भाषाओं को दो भागों में बाँटा जाता है। उत्तर और मध्य भारत की भाषायें सीधे संस्कृत पर आधारित हैं। दक्षिण की चार भाषाओं का मूल भिन्न है पर उन पर भी संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है।

उत्तर भारत की भाषायें गिनते समय प्रायः लोग लिपियों पर ध्यान देते हैं पर लिपियाँ भाषाओं की भिन्नता का सदा सही माप नहीं देतीं। यदि भोजपुरी की अपनी लिपि होती तो वह भी पंजाबी की तरह एक अलग भाषा मानी जाती। ऐसे कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं। शायद इसी कारण विनोवा भावे ने कई दशक पूर्व आग्रह किया था कि सभी भारतीय भाषायें संस्कृत की लिपि यानी देवनागरी अपनायें। उनका यह सुझाव आया गया हो गया क्योंकि इसके अन्तर्गत हिन्दी और मराठी को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं को 'झुकना' पड़ता। समाधान ऐसा हो कि देश के भाषायी समन्वय के लिए हर भाषा को किंचित त्याग करना पड़े।

ऐसा सम्भव है क्योंकि सभी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति ब्राम्ही लिपि से हुयी है। यदि हम इस ब्राम्ही लिपि का ऐसा आधुनिक सरलीकरण और 'त्वरित उद्‌भव' करें कि वह प्रचिलित विभिन्न लिपियों का मिश्रज (hybrid) लगे तो उसे अपनाने में भिन्न भाषाओं को कम आपत्ति होगी। (इस लिपि में कई अक्षर ऐसे होंगे जिनका प्रयोग कुछेक भाषा ही करेंगीं।) कुछ सम्भावनाएँ :–

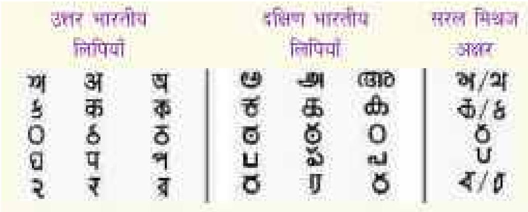

पर क्या अपनी लिपि का लगाव छोड़ा जा सकेगा? प्रथम तो यह कि मिश्रज लिपि पूरी तरह अपरिचित अथवा विदेशी न होगी। दूसरे, यदि कुछ कठिनाई होगी भी तो लाभ बड़े और दूरगामी हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि अंकों के मामले में ऐसा पहले ही हो चुका है – अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर। संसार की सभी लिपियाँ अंकों के लिए अब १, २, ३, ४, ५... का प्रयोग करती हैं। अब हम जहाँ-तहाँ ही हिन्दी में चार को '४' अथवा तमिळ में सात को '७' लिखा पाते हैं।

बात अन्तर्राष्ट्रीयता की आई है तो कुछ लोग कहेंगे कि क्यों न हम अंग्रेज़ी की रोमन लिपि अपनायें? ऐसा करना अनर्थकारी और हास्यास्पद होगा। भारतीय वर्णमाला को विश्व का अग्रणी ज्ञानकोश - इन्साय्क्लोपीडिया ब्रिटेनिका - भी 'वैज्ञानिक' कहता है। (ऐसा अभिमत किसी दूसरी वर्णमाला के लिये व्यक्त नहीं किया गया।) भारतीय लिपियाँ पूरी तरह ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) हैं अर्थात उच्चारण और वर्तनी (स्पेलिंग) में कोई भेद नहीं। (आश्चर्य नहीं कि मेरे एक ब्राज़ीली मित्र ने मात्र एक दिन में देवनागरी पढ़ना सीख लिया था।) ऐसी लिपि प्रणाली को छोड़कर यूरोपीय लिपि अपनाना सर्वथा अनुचित होगा।

इस समय हमारी लिपियों की संसार में कोई पूछ नहीं है। यदि सभी भारतीय भाषायें एक लिपि का प्रयोग करें तो शीघ्र ही इस लिपि को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिलेगी जैसी कि चीनी, अरबी आदि लिपियों को आज प्राप्त है। एकता में बल है।

एक लिपि हो जाने पर भी भारतीय भाषायें भिन्न बनीं रहेंगी। दूसरा कठिन कदम होगा एक भाषा को समस्त भारत में प्रधान बनाने का। यह हिन्दी होगी पर विशालहृदया हिन्दी! (इस 'विशालहृदया' का विस्तार आगे...) साथ ही, हिन्दी के दक्षिण भारत में प्रसार के लिए आवश्यक है कि दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता मिले। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है! हिन्दी भाषियों की संकीर्णता ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में सबसे बड़ी अड़चन रही है। दक्षिणी भाषाओं के प्रति उत्तर भारत में कोई जिज्ञासा नहीं है। यदि है तो एक 'हापड़िल्ले सापड़िल्ले' वाली उपहास-वृत्ति। आश्चर्य नहीं कि स्वाभिमानी दक्षिण भारतीय, जिनकी भाषाओं का लम्बा इतिहास और अपना साहित्य है, हिन्दी प्रसार के

प्रयत्नों को इकतरफ़ा और हेकड़ीभरा कहकर उसका विरोध करें।

भारतीय सेना में दक्षिण भारत की सेना-टुकड़ियों के उत्तर भारतीय अफसरों को चार दक्षिणी भाषाओं में से एक सीखनी पड़ती है। उत्तर भारत की शिक्षा-प्रणाली में ऐसा ही कुछ किया जाना नितान्त आवश्यक है। जैसे हर माध्यमिक स्कूल में छठवीं कक्षा से एक दक्षिण भारतीय भाषा पढ़ाने की व्यवस्था हो। ऐसा होने पर उत्तर-दक्षिण का भाषायी वैमनस्य जाता रहेगा और तद्जनित सद्भाव के वातावरण में सहज ही हिन्दी को दक्षिण भारत में स्वीकृति मिलेगी।

उत्तर भारत की दूसरी भाषाओं के प्रति हिन्दी को विशालहृदया भी होना होगा। बंगाली, गुजराती, उड़िया आदि के शीर्षस्थ साहित्यकारों की रचनायें हिन्दी पाठ्यक्रम में जोड़ी जायें। इससे छात्रों पर अतिशय भार न पड़ेगा। इन हिन्दीतर भाषाओं के अनेक पद्यों की भाषा हिन्दी की खड़ी बोली से लगभग उतनी ही दूर है जितनी 'रामचरितमानस' की अवधी। 'वैष्णव जन तो तेने रे कहिए, जे पीड़ परायी जाणे रे' का अर्थ समझने के लिए किस हिन्दीभाषी को कुंजी उठानी होगी? संस्कृतिगर्भित होने पर यह दूरी और भी कम हो जाती है जैसा कि 'जन गण मन' और 'वन्दे मातरम' जैसी रचनाओं में देखा जा सकता है। गद्य पाठन भी मुश्किल न होगा। 'शांतता, कोर्ट चालू आहे' का अर्थ एक बार जान लेने पर क्या किसी उत्तर भारतीय के लिए याद रखना कठिन है?

उत्तर भारत की भाषाओं के सामीप्य के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं :

मीराबाई के भजन हिन्दी में जितने लोकप्रिय हैं उतने ही गुजराती में।

बिहार के विद्यापति को हिन्दी और बंगाली भाषी दोनों ही अपना मानते हैं।

पंजाबी के गुरु ग्रन्थ साहिब में मराठी कवि 'नामदेव' के अनेक पद हैं। यह भी कि नानकदेव के अधिकांश दोहों की भाषा ऐसी है कि यदि वे 'गुरुमुखी' में लिखे जायें तो पंजाबी कहलायेंगे और देवनागरी में लिखे जायें तो हिन्दी।

उत्तर भारतीय भाषाओं के पाठ्यक्रम में दूसरी सहोदरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं को समाहित कर लेने से छात्र स्वयं इस भाषायी-निकटता से अवगत होंगे। हमारी सांस्कृतिक धरोहर में भिन्न क्षेत्रों के साहित्य का जो योगदान है उससे उनका परिचय होगा। भाषायी-सौहार्द्र तो बढ़ेगा ही। यों देश में आज भी दूसरी भारतीय भाषाओं की कुछेक रचनायें पढ़ाई जातीं हैं - पर अंग्रेज़ी के माध्यम से! इस पर कुछ कहने से पहले हम 'अंग्रेज़ी की महत्ता' के बड़े विषय को लें। निस्सन्देह वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में नई खोजों, नये विचारों की भाषा प्रायः अंग्रेज़ी होती है।

> *अंग्रेज़ों के जाते समय अंग्रेज़ी भाषा की जितनी महत्ता थी, उससे अधिक आज है। क्या हमारा यह अंग्रेज़ी-अनुराग हमारे देश के उत्थान में सहायक हुआ है अथवा इस विदेशी भाषा पर अधिकार करने के अर्धसफल या असफल प्रयास में हम पीढ़ी दर पीढ़ी अपार समय और ऊर्जा गँवा रहे हैं?*

सबसे उन्नत देश अमेरिका की भाषा अंग्रेज़ी है। ज्ञान-विज्ञान की जितनी पुस्तकें, पत्रिकायें अंग्रेज़ी में उपलब्ध हैं उतनी किसी और भाषा में नहीं।

पर क्या इस ज्ञान को आत्मसात करने के लिए हम अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेज़ी को अंगीकार करें? भारत में आज ऐसा ही हो रहा है। अंग्रेज़ों के जाते समय अंग्रेज़ी भाषा की जितनी महत्ता थी, उससे अधिक आज है। क्या हमारा यह अंग्रेज़ी-अनुराग हमारे देश के उत्थान में सहायक हुआ है अथवा इस विदेशी भाषा पर अधिकार करने के अर्धसफल या असफल प्रयास में हम पीढ़ी दर पीढ़ी अपार समय और ऊर्जा गँवा रहे हैं?

उच्च शिक्षा के लिए जितने छात्र भारत से प्रतिवर्ष अमेरिका जाते हैं, लगभग उतने ही तैवान, दक्षिणी कोरिया जैसे देशों से, जहाँ विश्वविद्यालयों में विज्ञान तथा तकनीकी विषय भी चीनी, कोरियाई जैसी भाषाओं में पढ़ाये जाते हैं। (यह भी ध्यान दें कि हमारी जनसंख्या तैवान की जनसंख्या से ४० गुनी और दक्षिणी कोरिया की जनसंख्या से २० गुनी है!) हमारे अंग्रेज़ी-दक्ष इंजीनियर कोरिया के लोगों को कार, टीवी बनाना नहीं सिखाते। उनके टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलने वाले इंजीनियर हमें और बाकी दुनिया को, ऐसा सामान बनाकर बेचते हैं।

इन अंग्रेज़ी-मोह से मुक्त देशों की सफलता का कारण समझना कठिन नहीं है। वहाँ अंग्रेज़ी की पुस्तकों का स्वदेशी भाषा में अनुवाद करके उस ज्ञान को जन-साधारण के लिए सुलभ कर देते हैं। जो छात्र उच्चतर अध्ययन के लिए विदेश जाना चाहते हैं अथवा जो दूसरे कारणों से अंग्रेज़ी में रुचि रखते हों, केवल वे ही अंग्रेज़ी पढ़ते हैं। शेष छात्र इस भार से लगभग मुक्त।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इन देशों में विदेशी साहित्य और संस्कृति के प्रति रुचि न हो। टैगोर की कविताओं से इन एशियाई देशों के छात्र जितने परिचित हैं उतने भारत के नहीं। वहाँ महाकवि का काव्य अपनी बोली में

भाषान्तर करके पढ़ाया जाता है। हमारे यहाँ करोड़ों अ-बंगाली विद्यार्थी उन्हीं कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ते हैं जो कुंजियों की मदद से आधा-अधूरा किसी के पल्ले पड़ जाय तो बहुत समझिये।

बात हमारे अंग्रेज़ी पाठ्यक्रम की आई है तो उसके अन्य आयाम भी देख लें। भारत में अंग्रेज़ी एक विदेशी भाषा के रूप में नहीं पढ़ाई जाती। उसका पठन-पाठन कुछ ऐसा है मानो हम सब लंदन के निवासी हों।

वे छात्र जो अभी अंग्रेज़ी व्याकरण सीख ही रहे होते हैं और जो अपने मन के एक-दो सहज विचारों को ठीक तरह अंग्रेज़ी में व्यक्त करने में असमर्थ हैं उनसे कहा जाता है कि वे अंग्रेज़ी में गद्य तथा पद्य की सन्दर्भ सहित व्याख्या करें। संसार का शायद ही कोई दूसरा देश एक विदेशी भाषा को सीखने में ऐसी कमअक्ली दिखाता हो! (यह शिक्षा-पद्धति बिट्रिश-राज की देन है जिससे हम आज भी स्वतन्त्र नहीं हो पाये हैं।) स्वयं भारत के महानगरों में, जहाँ फ्रांसीसी, जर्मनी आदि भाषायें सिखाईं जातीं हैं वहाँ जोर व्याकरण की पक्की नींव डालने और शब्द ज्ञान बढ़ाने पर होता है। उस भाषा के साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन तो बहुत बाद में और अधिकांश छात्रों को उसकी आवश्यकता ही नहीं। यह उस साहित्य की अवहेलना नहीं, अपनी सीमायें समझने और प्राथमिकता निर्धारित करने की बात है। (कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग के क्षेत्र में सफल होने के लिए, अंग्रेज़ी साहित्य तो छोड़िये, उसके व्याकरण के विशेष ज्ञान की भी जरूरत नहीं!)

अंग्रेज़ी में ऐसे अनेक उच्च कोटि के कवि और लेखक हैं जिनकी कुछेक रचनाओं से परिचित होना किसी भी शिक्षित भारतीय के लिए जरूरी है। पर अंग्रेज़ी साहित्य विश्व-साहित्य नहीं है। अन्य विदेशी भाषाओं में भी प्रथम स्तर के बहुतेरे साहित्यकार हैं। वास्तव में ताल्सतॉय, चेखव और दॉस्तोयस्की जैसे रूसी दिग्गजों के आगे अंग्रेज़ी का कोई कथाकार नहीं ठहरता। हम क्यों न सभी श्रेष्ठतम विदेशी साहित्यकारों की रचनायें पढ़ें – पर अपनी भाषा में अनूदित करके, जैसा कि संसार के लगभग हर दूसरे देश में होता है। हमारे वर्तमान आंग्ल-पाठ्यक्रम में फ्रांसीसी मोपासां और रूसी चेखव की कहानियां कुछ ऐसे प्रस्तुत की जाती हैं मानो वे अंग्रेज़ी के लेखक हों! बंगाली के टैगोर का क्षोभनीय उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं।

यदि हमारे देश से कभी अंग्रेज़ी का दबदबा हटा तो कुछ समस्यायें भी उठ खड़ीं होंगीं :

समृद्ध परिवारों की नकारा निकल गई कुछेक संतानों को, जिनकी एक मात्र योग्यता अंग्रेज़ी में गिटपिटाना है, फिर नौकरियाँ कौन देगा?

हिन्दी के फिल्मजगत में तो बिल्कुल उथल-पुथल मच जायेगी। वहाँ जो कुछ हिन्दी बोली जाती है वह पर्दे पर। कैमरा हटते ही उन अधपढ़ों की भीड़ में जो जितनी अमेरिकी-ढरक से अंग्रेज़ी बोलता है, अपने आपको उतना ही कुलीन समझता है। उन कमबख्तों की छींक भी अंग्रेज़ी शब्दों के आदान-प्रदान के बिना पूरी नहीं होती। यदि अंग्रेज़ी की महत्ता गई तो इस उद्योग के लोग अपना उथलापन, अपनी अभद्रता कहाँ कैसे छुपायेंगे?

सो तो है। ऐसी दिक्कतें तो होंगीं। कुछ और वर्ग भी विरोध करेंगे मानो समर्थ अंग्रेज़ी का प्रभुत्त जाते ही देश बेसहारा हो जायेगा। अच्छा हो यदि ये लोग स्वयं अंग्रेज़ी भाषा का अपना इतिहास जान लें –

आज से ५०० वर्ष पहले विश्व की भाषाओं में अंग्रेज़ी की कोई गिनती नहीं थी। इसको बोलने वाले दो-एक टापू तक सीमित थे और वहाँ भी विद्वानों की भाषा लेटिन थी। शासक वर्ग में लेटिन की पुत्री इतालवी को सीखने का लोगों को सबसे अधिक चाव था। पर इंग्लेंडवासी इस विदेशी-भाषा-भक्ति से ऊपर उठे। उन्होंने उस समय के सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का – बाइबिल जिनमें प्रमुख थी – अपनी बोली में अनुवाद प्रारम्भ किया। विदेशी पुस्तकों, कथाओं आदि के आधार पर अपनी भाषा में साहित्य रचा। उनकी भाषा समृद्ध और सशक्त हुई और साथ ही सबल हुआ वह समाज। उनके उत्कर्ष की शेष कहानी तो हम जानते ही हैं।

पाँच सदी पूर्व की अंग्रेज़ी की तुलना में हमारी भाषाओं की वर्तमान स्थिति श्रेयस्कर है। संस्कृत की विपुल शब्द सम्पदा हमारी थाती है। अगर कमी है तो केवल इच्छाशक्ति की, एक संकल्प की, आपसी भाषायी राग-द्वेष को मिटाकर आगे बढ़ने की।

आज देश में जो भी प्रगति हो रही है उसका लाभ प्रायः उच्च-मध्यवर्गीय २० करोड़ लोगों तक सीमित है। शेष ८० प्रतिशत के पास अपना जीवनस्तर सुधारने के बहुत कम रास्ते हैं, जिसका एक कारण अंग्रेज़ी की प्रभुसत्ता है। (और ऊपर का वह २० प्रतिशत भी, अंग्रेज़ी भाषा-ज्ञान बढ़ाने में सतत समय गँवाता, दूसरे एशियाई देशों की तुलना में फिसड्डी लगता है।)

यदि भारत को कभी उन्नत देशों की श्रेणी में गिना जाना है तो जरूरी है कि हम अंग्रेज़ी की बेड़ियों से मुक्त हों। उसे एक अतिथि सा सम्मान दें, गृहस्वामिनी न मानें। आम आदमी को उसी की भाषा में शिक्षा और शासन दिया जाय।

हम अन्य देशों से सीखें। आज चीन जिस तरह दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहा है, आश्चर्य नहीं कि इस शताब्दी के मध्य तक चीनी भाषा विश्व में उतनी ही महत्वपूर्ण हो जाय जितनी अंग्रेज़ी। (इसके संकेत अमेरिका में अभी से दिखने लगे हैं।) तब हम और दयनीय लगेंगे। ■

डॉ. अल्का आत्रेय चूडाल
विएना विश्वविद्यालय, ऑस्ट्रिया से विद्यावारिधि। पूर्वीय दर्शन, प्राचीन व्याकरण में आचार्य और नेपाली साहित्य में एम.ए.। सृजनात्मक लेखन एवं समालोचना में रुचि। सम्प्रति - विएना विश्वविद्यालय में अध्यापन एवं अनुसंधान।
सम्पर्क : alaka.chudal@univie.ac.at

मन की बात

रोमन हिंदी और हिंगलिश

हिंदी पर आधुनिकता और तकनीक का वार

हिंग्लिश की बहस भले ही इक्कीसवीं सदी की उपज हो लेकिन रोमन हिंदी को प्रयोग में लाने की चर्चा भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय से ही चली आ रही है। जब राष्ट्रभाषा के लिए आंदोलन जोरों पर था तभी हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाए जाने पर इसके लिए कौन-सी लिपि स्वीकार्य होगी, यह सवाल भी उत्कर्ष पर था। हिंदी के उन पक्षधरों में से राहुल सांकृत्यायन हिंदी भाषा और देवनागरी के पक्ष में थे। जिस वजह से उनको अपनी पार्टी भाकपा की नीति के विरुद्ध होने के आरोप के तहत पार्टी से अलग तक होना पड़ा था। इसके अलावा भारत में भाषिक प्रान्त के हिमायती प्रारंभिक मुख्य राजनीतिक नेताओं में से एक बाल गंगाधर तिलक ने तो दिसम्बर १९०५ में नागरी प्रचारिणी सभा के सम्मेलन को बनारस में सम्बोधित करते हुए भारतीय एकता के लिए भारत में बोली जाने वाली सभी भारतीय और द्रविड भाषा परिवार की भाषाओं को एक ही साझा लिपि देवनागरी को अपनाने तक का प्रस्ताव किया था।

उस समय भाषा, हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी? लिपि : देवनागरी, फारसी अरबी या फिर रोमन? इन विकल्पों को लेकर वैचारिक द्वन्द्व चल रहा था। इसी बीच १९३३ में जवाहरलाल नेहरू ने अपनी छोटी बहन कृष्णा की शादी का कार्ड रोमन हिंदी लिपि में छापा जिस पर गांधी जी ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उनको एक पत्र लिखकर पूछा- 'क्या यह हिंदी से रोमन वर्णों का परिचय कराने की तुम्हारी कोशिश थी?' इस पर नेहरू ने अपना स्पष्टीकरण देते हुए जवाब लिखा- 'मैंने लैटिन लिपि इसलिए प्रयोग नहीं की क्योंकि मैं इसे बदलना चाहता हूँ जबकि यह मुझे लंबे समय से आकर्षित करती आ रही है। टर्की और मध्य एशिया में इसकी सफलता से मैं प्रभावित हूँ और इसके समर्थन पर किए गए जायज तर्कों का पलड़ा भारी है। लिपि का परिवर्तन किसी भी भाषा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है ख़ासकर जिसका समृद्ध साहित्यिक इतिहास हो, लिपि साहित्य का एक अभिन्न अङ्ग होता है।'

हिंदी साहित्य की समृद्धि शायद नेहरू को राजभाषा हिंदी के लिए देवनागरी लिपि अपनाने पर मज़बूर कर पायी लेकिन वे रोमन लिपि के मोह से पीछा न छुड़ा सके और हिंदी भाषा के लिए देवनागरी लिपि के साथ रोमन अंकों को मान्यता दिलवा दिया।

इससे यह तो स्पष्ट होता है कि इतिहास से ही हिंदी भाषा एक संघर्षशील भाषा रही है। १९४९ से पहले राजभाषा का मुकुट पहनने के लिए जितना संघर्ष इसने किया था उतना ही आज अपने अस्तित्व को बचाने के लिए करना पड़ रहा है। तब हिंदी के जन भाषा न होने का तर्क पेश किया जाता था और आज तकनीक का हवाला देकर हिंदी में रोमन लिपि को अपनाने और ऐसा न करने पर हिंदी भाषा का अस्तित्व खतरे में पड़ सकने का तर्क पेश किया जा रहा है। हाल ही में युवा लेखक चेतन भगत द्वारा लिखित आलेख 'रोमन हिंदी के बारे में क्या ख्याल है?' ऐसी ही एक मिसाल है।

एक ओर भगत जैसे युवा हैं जो रोमन हिंदी के पक्षपाती

अगर हम हमारे अपने बच्चों को यह सिखा सकें कि अगर हिंदी बोलें तो शुद्ध हिंदी और अंग्रेजी बोलें तो शुद्ध अंग्रेजी, तभी उनकी भाषिक दक्षता समृद्ध हो सकती है।

है दूसरी ओर प्रभु जोशी हैं जो कि हिंग्लिश के प्रयोग को हिंदी का अस्तित्व मिटाने की क्रमिक साजिश की संज्ञा देते हैं। ये दोनों लेखक हिंदी रूपी नदी के दो किनारे हैं लेकिन मैं हिंदी की मझधार में रहकर दोनों को महसूस करना चाहती हूँ।

मेरे ख़याल में रोमन हिंदी के समर्थन में भगत जो तर्क पेश करते हैं इससे हिंदी बोलनेवालों को कोई बहुत बड़ा लाभ हो ऐसा नहीं दिखता। सबसे पहले तो मुझे यह बात समझ में नहीं आई कि अगर की-बोर्ड पर aap kaise hain? टाइप करने पर स्क्रीन में 'आप कैसे हैं?' दिखता है तो इसमें क्या खराबी है? तकनीक ने इतनी उन्नति तो कर ली है कि a दबाने पर 'अ' और aa दबाने पर 'आ' दिखता है । मेरे खयाल में यूनिकोड की प्रविधि इतनी तर्क संगत है कि यह संस्कृत के स्वर और व्यंजन संधि के नियमों का पूरा-पूरा अनुसरण करती है और मुझे तो यह काफ़ी वैज्ञानिक लगी। मोबाइल हो या अन्य कोई की-बोर्ड, उसमें टाइप का अभ्यास करने के लिए हर किसी को कुछ वक्त लगता है, उसी तरह देवनागरी टाइप करने वालों को भी उतना ही वक्त लगेगा ।

दूसरी बात जो मिठास देवनागरी में लिखी हिंदी दे सकती है वह रोमन में लिखी हिंदी कभी नहीं दे सकती। हिंदी शब्दों के उच्चारण की भिन्नता और आसानी देवनागरी लिपि से बेहतर कोई अन्य लिपि नहीं दे सकती। यह तो ऐसा हुआ न कि हम मक्के की रोटी और सरसों की साग के बजाय मक्के की रोटी बनाने के झंझट से डबल रोटी और सरसों का साग खाएँ। पेट तो दोनों ही से भरता है लेकिन दोनों का मज़ा कुछ अलग ही है। तिलगुड के लड्डुओं में जो स्वाद है क्या वही स्वाद तिल के चॉकलेट में मिल सकता है? जब मेरे विदेशी विद्यार्थी देवनागरी में लिखे अंग्रेजी शब्द पढ़ते हैं तो वे अक्सर उन्हें आसानी से समझ ही नहीं पाते और जब बहुत माथापच्ची के बाद उनका मतलब समझते हैं तो अपनी हँसी रोक नहीं पाते। उनको अंग्रेजी शब्दों को देवनागरी में लिखने का संयोग बहुत ही अज़ीब लगता है। और वे उनका ठीक उच्चारण नहीं कर पाते। लेकिन हम हैं कि हिंदी को रोमन में लिखने की दमदार कोशिश में लगे हैं।

बात रही आधुकिनता और अंग्रेजी की विश्वव्यापकता की। मुझे तो हमेशा यह सोचकर बड़ा दुःख होता है कि हम आधुनिक युवा क्यों इतने आलसी और अकर्मण्य होने की कोशिश में लगे हैं। अंग्रेजी जानना बहुत अच्छी बात है और अंग्रेजी में दक्षता तो उससे भी प्रशंसनीय। किसी एक भाषा में दक्षता हासिल करने में दूसरी भाषा बाधक बन सकती है, यह तो सिर्फ़ नाच न जाने आँगन टेड़ा वाली बात हुई। हमारे बच्चे और युवा आज हिंग्लिश बोलते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी हिंदी कमज़ोर और अंग्रेजी बहुत अच्छी। बल्कि बड़े दुःख की बात है कि उनकी अंग्रेजी भी अच्छी नहीं है। अगर हम अपने बच्चों को यह सिखा सकें कि अगर हिंदी बोलें तो शुद्ध हिंदी और अंग्रेजी बोलें तो शुद्ध अंग्रेजी, तभी उनकी भाषिक दक्षता समृद्ध हो सकती है। क्या हम अपने बच्चों को सिर्फ़ एक ही भाषा का जानकार बनाना चाहते हैं? क्या अंग्रेजी के अलावा दूसरी भाषाओं को जानना एक अपराध है? क्या हम उनको कूप मण्डूक बनाना चाहते हैं।

कहा जाता है कि एक बच्चा एक साथ पाँच भाषाएँ सीखने की क्षमता रखता है, लेकिन हम उसको प्रकृति प्रदत्त मातृभाषा या अन्य भाषा सीखने से क्यों वञ्चित करना चाहते हैं? क्या देवनागरी और हिंदी सीखने से उनकी अंग्रेजी कमज़ोर पड़ जाएगी? कभी नहीं। कहीं हम खुद को तकनीक का हवाला देकर अपना आलस्य छुपाना तो नहीं चाहते?

भाषा वैज्ञानिकों का कहना है और इस बात को एक भाषा शिक्षक के नाते मैं भी अपने अनुभव से कह सकती हूँ कि जो अपनी मातृभाषा और उसका व्याकरण अच्छी तरह जानता है वह दुनिया की कोई भी भाषा आसानी से सीख सकता है। इसलिए हिंदी और देवनागरी को अंग्रेजी और तकनीकी ज्ञान में बाधक मानना मुझे तो असह्य होता है। हम और हमारी युवा पीढ़ी इतनी भी मंदबुद्धि नहीं है कि वह दो भाषाएँ और दो लिपियाँ न सीख सके और इनका इस्तेमाल न कर सके। अगर ऐसा कहा जाय तो क्या अंग्रेजी न बोलने वाले दुनिया के इतने देशों के लोग सब बेकार हैं? हमको यह ज़रूर समझना चाहिए कि दुनिया में अमरीका, विलायत और ऑस्ट्रेलिया के अलावा भी बहुत देश हैं जो अपनी भाषा में तकनीकों का प्रयोग करते हैं। बल्कि हमें तो यह देखकर चिंतित होना चाहिए कि भारत जो कि बहुभाषी विद्वानों का देश, बहुभाषी जनता का देश कहा जाता था वह अब सिर्फ़ अंग्रेजी जानने वाले आलसियों का देश बनने की राह पर चल पड़ा है। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए हमें केवल अंग्रेजी मोह से निकलकर कम से कम राष्ट्रभाषा हिंदी में तो दक्षता हासिल करना ही चाहिये।■

बी.एन. गोयल

पांच विभिन्न विषयों में स्नातकोत्तर। भारत सरकार के प्रकाशन संस्थान, नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए पुस्तकें लिखी। विविध विषयों पर भारत एवं कनाडा के पत्र-पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन। भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय, सूचना प्रसारण मंत्रालय तथा विदेश मंत्रालय में कार्य किया। आकाशवाणी महानिदेशालय के कार्यक्रम निदेशक पद से सेवा निवृत्त। दुनियाभर की यात्राएँ कीं। सम्प्रति - कनाडा में निवास।

सम्पर्क : bngoyal@gmail.com

मन की बात

हिंदी के लिए रोमन अथवा देवनागरी

अँग्रेज़ी के उपन्यासकार चेतन भगत ने हाल ही में प्रकाशित अपने एक लेख में हिंदी भाषा के लिए रोमन लिपि अपनाने का सुझाव दिया है। मैं यह मानता हूँ कि श्री भगत हिंदी भाषी व्यक्ति है, हिंदी लिखना-पढ़ना बखूबी जानते हैं। इनसे पहले विक्रम सेठ जैसे और भी अनेक प्रसिद्ध हिंदी भाषी व्यक्तियों ने अंग्रेजी में उपन्यास लिखे हैं, लेकिन इस तरह लिपि परिवर्तन का सुझाव किसी ने नहीं दिया। चेतन भगत का सुझाव एक तरफ़ा है, बिना माँगा है और इससे हिंदी भाषा अथवा लिपि को कोई अंतर नहीं पड़ा। लेकिन इस बहाने कुछ सोचने का अवसर मिला है।

वास्तव में लिपि है क्या? प्रायः लोग लिपि को ही हिंदी-अँग्रेज़ी आदि भाषा कह देते हैं। लिपि भाषा नहीं है वरन यह भाषा का प्रतिरूप है। यह भाषा को एक मूर्तरूप देती है। समय काल और परिस्थिति के अनुसार भाषा में जैसे-जैसे परिवर्तन अथवा 'सुधार' होते हैं वे सब लिपि से ही परिलक्षित होते हैं। भाषाविदों ने प्रत्येक लिपि के सामर्थ्य और असामर्थ्य दो लक्षण माने हैं। यहाँ इनकी चर्चा करना आवश्यक नहीं है। हम यहाँ बात करेंगे - हिंदी तथा देवनागरी और रोमन लिपि की।

प्रायः कहा जाता है कि देवनागरी लिपि अत्यधिक समर्थ, दृढ और वैज्ञानिक लिपि है। इसे कंप्यूटर के लिए अत्यंत उपयुक्त माना गया है। दूसरी ओर यह भी एक सत्यता है कि आज अधिकाँश व्यक्ति कम्प्यूटर के कारण ही अपनी भाषा भूलकर अँग्रेज़ीदाँ हो गए हैं और वह भी गलत रूप में। इस कम्प्यूटर क्रांति के कारण लोग गलत अंग्रेजी का प्रयोग करने लगे हैं और उसे ही शुद्ध अँग्रेज़ी मानने लगे हैं। इस क्रांति का एक परिणाम यह भी हुआ है कि अंग्रेजी शब्दों की नयी तुरत-फुरत वर्तनी सामने आने लगी। इसे वर्तनी में सुधार का नाम दिया गया। परिणाम स्वरूप अँग्रेज़ी के गढ़ इंग्लॅण्ड में ही अंग्रेजी में अकस्मात आयी इस वर्तनी 'सुधार' की हवा से खलबली मच गयी है।

वर्तनी 'सुधार' की यह हवा उच्चारण के कारण है। वर्तनी का सीधा सम्बन्ध उच्चारण से है। हिंदी ही नहीं सभी एशियाई भाषाओं में शुद्ध उच्चारण को महत्वपूर्ण माना जाता है। यही कारण है कि अब कुछ समय से अँग्रेज़ी की वर्तनी को भी उच्चारण आधारित बनाने के प्रयास शुरू हुए हैं। एक समय था जब अँग्रेज़ी भाषा को 'किंग्स और क्वींस इंग्लिश' के नाम से प्रसिद्ध पुण्य सलिला माना जाता था। ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज में पढ़े व्यक्ति को सर्वज्ञ और वंदनीय माना जाता था। यही बताया जाता था कि अँग्रेज़ी ही सर्वोपरि भाषा/लिपि है। समय ने करवट बदली और अँग्रेज़ी के ऊपर से

देवनागरी की बात करते समय हिंदी के साथ मराठी की चर्चा करनी भी आवश्यक है। दोनों की लिपि का नाम देवनागरी ही है और दोनों की आकृति अधिकांशतः समान है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी भाषाएँ हैं जिनकी लिपि देवनागरी है।

अँग्रेज़ों का प्रभुत्व कम होने लगा और उसका स्थान अमेरिकी अँग्रेज़ी लेने लगी। अमेरिकियों ने अँग्रेज़ी की वर्तनी को अपनी सुविधा और अपनी निजता दिखाने के लिए बदल दिया जैसे कि programme जैसे अन्य शब्दों से एक m और e अक्षरों को हटा दिया। Labour शब्द से u अक्षर हटा दिया। cheque को बदल कर check कर दिया। किंग और क़्वीन अँग्रेज़ी से पूर्णतया अलग करने तथा इसे अमेरिकी चोला देने की दृष्टि से इस में बहुत से परिवर्तन किये गए और धीरे-धीरे इन्हें मान्यता मिलने लगी। कम्प्यूटर के आने से जहाँ इस अभियान को गति मिली, इसे सुविधाजनक मना जाने लगा वहीं king और queen वाली अँग्रेज़ी की वर्तनी का बिल्कुल सर्वनाश हो गया। सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ कि शब्दों का स्थान अब अंकों ने ले लिया। अब to शब्द के लिए २ और for शब्द के लिए ४ लिखा जाने लगा। yours को yrs बना दिया। इसे मान्यता भी मिलने लगी, यह सुविधाजनक भी लगा और इससे समय की बचत भी होने लगी। पहले शार्टहैंड के लिए भी ऐसा कभी नहीं हुआ था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उच्चारण के मूल में लिपि अत्यधिक महत्वपूर्ण है। लिपि में उपरोक्त बदलाव उच्चारण/ध्वनि के कारण ही आये। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. देवीशंकर द्विवेदी ने अँग्रेज़ी और रूसी भाषा के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया था। अँग्रेज़ी भाषा की लिपि रोमन कहलाती है जबकि रूसी भाषा की रोमन लिपि को सीरिलिक कहा जाता है। उनके अनुसार 'अँग्रेज़ी का 'हैम' शब्द रूसी में 'नात' पढ़ा जायेगा। रूसी नाम 'नताशा' अँग्रेज़ी में 'हमावा' पढ़ा जायेगा। दोनों भाषाओं में प्रचलित लिपि के इन अक्षरों में परस्पर आकृति साम्य है लेकिन दोनों भाषाओं में ध्वनि भिन्न-भिन्न है। रूसी भाषा के लिए रोमन को अनुकूलित और प्रचलित करने वाले विद्वान का नाम सिरिल था अतः उसी के नाम पर इसको सिरिलिक कर दिया गया। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसे नया नाम देने की कोई आवश्यकता नहीं थी - इसे रूसी रोमन कहा जा सकता था।

देवनागरी की बात करते समय हिंदी के साथ मराठी की चर्चा करनी भी आवश्यक है। दोनों की लिपि का नाम देवनागरी ही है और दोनों की आकृति अधिकांशतः समान है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी भाषाएँ हैं जिनकी लिपि देवनागरी है। (देवनागरी और हिंदी, देवीशंकर द्विवेदी, हरियाणा भाषा विभाग, चंडीगढ़ द्वारा १९७६-७७ में आयोजित वार्षिक लेखक गोष्ठी में पढ़ा गया शोध लेख और उनके द्वारा ही प्रकाशित)।

अब हम अँग्रेज़ी और फ्रेंच भाषा की लिपि की बात करते हैं क्योंकि दोनों की लिपि रोमन है लेकिन अँग्रेज़ी का ट्रेन फ्रेंच में त्रेन पढ़ा जायेगा। इन दोनों भाषा की लिपि में आकृति साम्यता है लेकिन ध्वनि साम्यता नहीं है। उदाहरण के लिए यहाँ दो वाक्य फ्रेंच के देता हूँ -

Je veux dire, je ne comprends pas votre "oups!!!...". Est-ce que vous allez quitter la France?/Vivre en France?...

Etes-vous utudiant(e) de hindi? ourdou?

रोमन लिपि में होने के बाद भी क्या आप इन्हें पढ़ सकते हैं? इंग्लॅण्ड और फ्रांस दोनों ही पड़ोसी देश हैं लेकिन भाषा के नाम पर दोनों में कट्टरता है। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव पर कह सकता हूँ कि फ्रांस का एक शिक्षित व्यक्ति ही नहीं तथाकथित अशिक्षित अथवा छोटे से छोटा व्यक्ति भी अँग्रेज़ी भाषा के प्रति दुराग्रह से ग्रस्त है। पेरिस में सड़क किनारे बैठे फल विक्रेता ने भी मुझसे अँग्रेज़ी में बात करने से मना कर दिया। उसके अनुसार यदि मैं फ्रेंच नहीं जानता तो मैं अपनी ही भाषा में बात करूँ। पेरिस में किसी से भी बात करने से पहले यह कहना पड़ता था कि मैं फ्रेंच नहीं जानता, मात्र अँग्रेज़ी अथवा अपनी भाषा ही जानता हूँ।

अब हिंदी के वाक्य रोमन में दे रहा हूँ -

Aakhir maine yeh "Hindi" page banayi kyon? Iska hona zaroori tha. Is liye kyonki mere Angl bhasa ke prayog se meri ek aisi chhavi banti hai ki mano mein keval pashchatya sanskriti se hi prabhavit hoon aur Bharatvarsh ki sanskriti mere liye koyi mayne nahin rakhti. Lekin aisa bilkul nahin.

क्या इन्हें आप सरलता या रवानगी से पढ़ सकते हैं? यदि नहीं तो हम किस रोमन को हिंदी की लिपि के रूप में अपनाने की बात करते हैं? अब देवनागरी लिपि की बात करें।

मन की बात

देवनागरी अक्षरों की तालिका को वर्णमाला कहा जाता है। क्योंकि इस लिपि का प्रत्येक अक्षर एक वर्ण (सिलेबिल) होता है। प्रत्येक व्यंजनाक्षर में 'अ' वर्ण अनिवार्य रूप से होता है। इसीलिए इसे वर्णमूलक लिपि कहा जाता है। यही इस की वैज्ञानिकता है।

उच्चारण-योग्य लिपि : भारतीय भाषाओं के किसी भी शब्द या ध्वनि को देवनागरी लिपि में ज्यों का त्यों लिखा जा सकता है और फिर लिखे पाठ को लगभग 'हू-ब-हू' उच्चारण से पढ़ा जा सकता है। यह रोमन लिपि और अन्य कई लिपियों में सम्भव नहीं है, जब तक कि उनका विशेष मानकीकरण न किया जाये।

अँग्रेज़ी के सन्दर्भ में उच्चारण अथवा ध्वनि की बात करें। यह एक सत्यता है कि अँग्रेज़ी भाषी दो विभिन्न देशों के व्यक्तियों का उच्चारण एक-दूसरे से अलग होगा। उदाहरण के लिए अमरीका और कनाडा को ले सकते हैं। अमरीका और कैरिबियन देशों को ले सकते हैं। अर्थात अँग्रेज़ीभाषी जितने भी देश अथवा क्षेत्र हैं उनमें भी साम्यता नहीं है।

देवनागरी में कुल ५२ अक्षर हैं, जिसमें १४ स्वर और ३८ व्यंजन हैं। अक्षरों की क्रम व्यवस्था (विन्यास) भी बहुत ही वैज्ञानिक है। स्वर-व्यंजन, कोमल-कठोर, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक्य-अन्तस्थ-उष्म इत्यादि वर्गीकरण भी वैज्ञानिक हैं।

देवनागरी लिपि में अनेक भारतीय भाषा तथा कुछ विदेशी भाषाएं लिखी जाती हैं जैसे संस्कृत, पालि, हिन्दी, मराठी, कोंकणी, सिन्धी, कश्मीरी,डोगरी, नेपाली, नेपाल भाषा (तथा अन्य नेपाली उपभाषाएँ), गढ़वाली, बोडो, अंगिका, मगही, भोजपुरी, संथाली आदि भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाती हैं। भारत की कई लिपियाँ देवनागरी से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं जैसे- बांग्ला, गुजराती, गुरुमुखी आदि।

एक मत के अनुसार देवनगरी (काशी) में प्रचलन के कारण इसका नाम देवनागरी पड़ा।

कम्प्यूटर प्रोग्रामों की सहायता से भारतीय लिपियों में परस्पर परिवर्तन बहुत आसान हो गया है।

'सुधार' के नाम से देवनागरी लिपि में समय-समय पर कुछ परिवर्तन करने के प्रयत्न किये गए लेकिन वे सब विफल रहे। जैसे पाँचवें दशक के अंत में अन्य परिवर्तनों के साथ छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' दोनों की मात्रा को दीर्घ में लिख कर आकार में छोटा बड़ा कर दिया गया। लेकिन ये सब परिवर्तन उच्चारण में अव्यावहारिक सिद्ध हुये और अंततः लिपि का वर्तमान रूप ही स्वीकार किया गया।

"देवनागरी अक्षरों की तालिका को वर्णमाला कहा जाता है। क्योंकि इस लिपि का प्रत्येक अक्षर एक वर्ण (सिलेबिल) होता है। प्रत्येक व्यंजनाक्षर में 'अ' वर्ण अनिवार्य रूप से होता है। इसीलिए इसे वर्णमूलक लिपि कहा जाता है। यही इस की वैज्ञानिकता है।"

डॉ. द्विवेदी के अनुसार देवनागरी की वर्णमाला की एक उल्लेखनीय वैज्ञानिकता उस के अक्षरों की संयोजना है। सबसे पहले स्पर्श व्यंजन दिए गए हैं जो उच्चारण स्थान की दृष्टि से क्रमशः पीछे से आगे की ओर आते हैं। प्रत्येक वर्ग में (कवर्ग, चवर्ग आदि) घोष और प्राण की दृष्टि से व्यंजनों का स्थान निर्धारित है। वर्गों के अंत में वर्ग - नासिक्य का स्थान है इसी प्रकार अंतःस्थ और उष्म व्यंजन आते हैं। इस संयोजन में कुछ जटिलता हो सकती है लेकिन अवैज्ञानिकता नहीं है।

अनुकूलन और स्वीकार्यता : प्रत्येक भाषा में समय-समय पर काल और परिस्थिति के अनुसार नयी ध्वनियों का समावेश, विच्छेद अथवा परिवर्तन होता रहता है। मुस्लिम शासन काल में अरबी लिपि और उस पर आधारित उर्दू भाषा का आगमन हुआ। अँग्रेज़ी शासन काल में अँग्रेज़ी आयी और इसी दौरान रोमानी हिंदी आयी। इन्हीं भाषाओं के ध्वन्यात्मक शब्द देवनागरी में लिखे जाने लगे और इस में आत्मसात हो गए जैसे नुक्ते वाले अक्षर ख़ ग़ ज़। कुछ अक्षर विभिन्न बोलियों से आ गए जैसे ड़,ड़ ढ़ फ़ ळ क़ आदि।

महात्मा गांधी गुजराती भाषी थे और उन्होंने सरल हिंदी - हिंदुस्तानी की बात कही थी। उन्होंने अपनी बात सूरत में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक समारोह में कही थी और काका कालेलकर ने उसे पूरी निष्ठा से अपनाया। गुजरात प्रदेश में आज भी इसका प्रचलन है। इस में इ ई उ ऊ के लिए अ अक्षर पर इन की मात्राएँ लगाना ही काफी है।

अंत में यही कहूँगा कि हिंदी भाषा को किसी अन्य लिपि की आवश्यकता नहीं है। श्री चेतन भगत की आशंका निर्मूल है। हिंदी की लिपि देवनागरी है जो शाश्वत है, सनातन है और देश की प्रगति के लिए सर्वथा उपयुक्त है। ■

राजेश करमहे

विज्ञान (भौतिकी प्रतिष्ठा) स्नातक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान में स्नातकोत्तर एवं हैदराबाद विश्वविद्यालय से पी.जी. डिप्लोमा इन लाईब्रेरी ऑटोमेशन एंड नेटवर्किंग. आकाशवाणी वार्षिक पुरस्कार में मेरिट सर्टीफिकेट. विभिन्न सेमिनार एवं गोष्ठियों में आलेख प्रस्तुत किये. हिंदी एवं अंग्रेजी में ब्लॉग प्रकाशित. पठन-पाठन, लेखन एवं आध्यात्म में रुचि. संप्रति आकाशवाणी राँची में कार्यरत.

सम्पर्क : पुस्तकालयाध्यक्ष, आकाशवाणी, रांची, झारखंड. ईमेल : karmahe.rajesh@gmail.com

ख्याल हिंदी की बिंदी का

मानव समाज अब तक तीन महत्वपूर्ण संक्रमण के दौर से गुजरा है और इन तीनों क्रांतियों ने उसके बाह्य क्रियाकलापों के साथ-साथ आंतरिक सोच और अभिव्यक्ति में भी बुनियादी बदलाव लाया। आग की खोज के बाद घुमंतू मनुष्यों का पहला क्रांतिकारी आविष्कार पहिया या चक्र था, जिसने उनका जीवन चक्र ही बदल दिया। अब वे ग्राम्य अंचलों और नग (पर्वत) की उपत्यकाओं से निकलकर नगर (नग के समीप) के हाट और सभाओं में जाने लगे। जहाँ वे वस्तुओं के आदान-प्रदान के साथ-साथ सभाओं के हाव-भाव और अभिव्यक्ति के तौर-तरीके सीखने लगे और सभा में जाने वाले सभ्य कहे जाने लगे। ज़ाहिर है कि सभ्यता का प्रभाव उनकी जिह्वा (lingua) पर पड़ा और गाँव के गँवारों और नगर की सभा के सभ्यों की बोलियाँ अलग-अलग होने लगीं और भाषा का विकास होने लगा। अगर भारतीय सभ्यता पर दृष्टिपात करें तो भाषायी विकास में सर्वप्रथम हमें श्रुति और स्मृति का दर्शन होता है। जब श्रुति या स्मृति का स्मरण करते हैं तो हमारा सर प्राचीन भारतीय परम्परा के समक्ष कृतज्ञता से झुक जाता है, वह इसलिए कि उस युग में न तो लिपि (लेपन से व्युत्पन्न) का विकास सम्यक रूप से हुआ था, न ही ध्वनियों का वर्णन करने वाले वर्ण (जो वर्णन करे, चित्र) थे और न ही पांडुलिपियों की प्रतिलिपियों को बनाने की व्यवस्था थी। फिर भी भावी पीढ़ी को अपने ज्ञान-विज्ञान को सौंपने और कालजयी बनने की ललक ने उन्हें श्रुति स्मृति परम्परा का अवलम्ब लेने के लिये बाध्य कर दिया। वे अपनी पुरानी पीढ़ी से सीखकर और उसे स्मरण कर नयी पीढ़ी को सुनाकर धरोहर सौंपने लगे। गद्य साहित्य का स्मरण करना आज भी मानव मष्तिष्क के लिए चुनौती है, सो काव्यों को गेय रूप दिया गया। कविता, गीत या ऋचाओं के लिए पद और छन्द गढ़े गये और यहाँ तक कि छन्द को बनानेवाले ऋषियों के प्रति आभार प्रकट करने के लिये ऋचाओं के साथ छन्द और उनके प्रवर्तक ऋषियों के नाम गुम्फित किये गये तथा ध्वनि के साथ-साथ आरोह अवरोह के लिये हस्त संचालन के द्वारा सही उच्चारण की पक्की व्यवस्था की गयी। यह सनातन ध्वनि प्रवाह था जो आज भी विरासत बन वेदों के रूप में हमें प्राप्त है। अथर्ववेद १२-१-४५ में कहा गया, 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसं। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।' अनेक प्रकार की विविध भाषायें

> भारतीय सभ्यता पर दृष्टिपात करें तो भाषायी विकास में सर्वप्रथम हमें श्रुति और स्मृति का दर्शन होता है। जब श्रुति या स्मृति का स्मरण करते हैं तो हमारा सर प्राचीन भारतीय परम्परा के समक्ष कृतज्ञता से झुक जाता है।

बोलनेवाले और अनेक धर्मों को धारण करनेवाले जनसमुदायों को एक घर में रहनेवाले भाईयों के समान यह मातृभूमि धारण करती है। यह भूमि हमें धन की हजारों धारायें देती रहे, जैसे दुहने के समय न हिलनेवाली गौ दूध देती है। विदित हो कि तब संभवतः लिपि का विकास भले ही न हुआ था, किन्तु तत्कालीन समाज में न तो धार्मिक और न ही भाषायी वैमनस्यता थी।

कालक्रम में वैज्ञानिक चेतना के विकास के साथ-साथ ध्वनि के दो भेद किये गये 'नाद और वच।' नदी की ध्वनि या प्रकृति की ध्वनि को नाद और बोलने की ध्वनि को वच या वाक् कहा गया। फिर वाक् की सबसे छोटी इकाई को अक्षर कहा गया। अक्षर की व्युत्पत्ति है - अशू , व्याप्त होना और सर प्रत्यय। भाषा की प्रत्येक ध्वनियों के लिये अक्षर तय किये गये। अक्षर भाषा की अविभाज्य इकाई मानी गयी और यह कहा गया कि अक्षर का क्षरण नहीं होता है। अतएव अक्षर को सर्व व्याप्त ब्रह्म भी कहा गया और जब अक्षरों को अमूर्त रूप से मूर्त रूप देकर साहित्यिक धरोहरों को सहेजने की कल्पना की गयी तो ताड़पत्रों, भोजपत्रों, शिलाओं पर अनेक वर्णों या रंगों से चित्र लीपे जाने लगे। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि का चित्र वर्ण हो गया और लेपन से अक्षर ब्रह्म को लिखने के विधान से ब्राह्मी लिपि का उद्भव हुआ। ब्राह्मी वाक् देवता सरस्वती का पर्यायवाची भी है। कालान्तर में आठवीं-नवीं सदी से ब्राह्मी लिपि मुख्यतया दो भागों में बंट गयी। नगाधिराज हिमालय के आसपास के शारदीय क्षेत्रों यानि ठन्डे इलाकों में ब्राह्मी का स्वरूप शारदा लिपि के रूप में विकसित हुआ और नग से इतर क्षेत्रों में यह नागरी नाम से ख्यात हुई। इसी नागरी से देवनागरी लिपि वर्तमान रूप में आयी। लेख विस्तार के भय से यहाँ देवनागरी लिपि का वैशिष्ट्य और वैज्ञानिकता पर ज्यादा प्रकाश डालना सम्भव नहीं है, अपितु कुछ बिन्दुओं पर विचार कर लेना ज़रूरी है। देवनागरी एक ऐसी लिपि है जिसमें अनेक भारतीय भाषाएँ तथा कुछ विदेशी भाषाएं लिखीं जाती हैं। संस्कृत, पालि, हिन्दी, मराठी, कोंकणी, सिन्धी, कश्मीरी, नेपाली, तामाङभाषा, गढ़वाली, बोडो, अंगिका, मगही, भोजपुरी, मैथिली, संथाली आदि भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में गुजराती, पंजाबी, बिष्णुपुरिया मणिपुरी, रोमानी और उर्दू भाषाएं भी देवनागरी में लिखी जाती हैं। यह विश्व में प्रचलित सभी लिपियों की अपेक्षा अधिक पूर्णतर है। इसके लिखित और उच्चरित रूप में कोई अंतर नहीं पड़ता है। प्रत्येक ध्वनि संकेत यथावत लिखा जाता है। इसमें कुल ५२ अक्षर हैं, जिसमें १४ स्वर और ३८ व्यंजन हैं। अक्षरों की क्रम व्यवस्था, विन्यास भी बहुत ही वैज्ञानिक है। स्वर-व्यंजन, कोमल-कठोर, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक्य-अन्तस्थ-उष्म इत्यादि वर्गीकरण भी वैज्ञानिक हैं। इतना ही नहीं देवनागरी लिपि के संकेत या अक्षर उच्चारण पर आधारित होने के कारण अपना अर्थ भी रखते हैं, यह रोमन या अन्य चित्रलिपियों की तरह केवल शब्द की न्यूनतम इकाई मात्र नहीं हैं। मसलन प्रणवाक्षर ॐ को रोमन में Om या Aum लिखने पर उच्चारण दोष तो होता ही है, हम यह भी नहीं जान सकते कि ॐ वास्तव में अ अर्थात् विष्णु, उ अर्थात् शिव और म अर्थात् ब्रह्मा का सम्मिलित उच्चारण है और इनके उच्चारण भी कंठ, ओष्ठ और नासिका होकर पालन, विसर्जन और सर्जन त्रिकोण का निर्माण करते हैं। गंगा रोमन लिपि में Ganga, Ganges या गैंगा हो सकती है, पर गंगा (गम, गमन करना और गन् प्रत्यय) यानि गति से गमन करने का द्योतक है। चेतन भगत को रोमन में लिखने से चेटन ब्हगट जैसे निरर्थक उच्चारण किये जा सकते हैं। हम रोमन में बाज़ारू और पीत साहित्य लिखकर औसत लोगों के बीच प्रसिद्धि पाकर पैसा भी कमा सकते हैं, किन्तु भारतीय साहित्य के मर्मस्थल तक बिना देवनागरी लिपि के ज्ञान के नहीं पहुँच सकते; भाषा विज्ञान और व्युत्पत्ति शास्त्र नहीं समझ सकते।

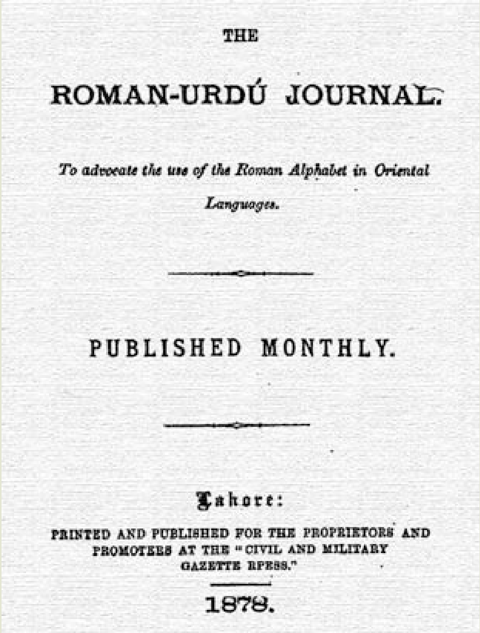
THE

ROMAN-URDÚ JOURNAL.

To advocate the use of the Roman Alphabet in Oriental Languages.

PUBLISHED MONTHLY.

Lahore:

PRINTED AND PUBLISHED FOR THE PROPRIETORS AND PROMOTERS AT THE "CIVIL AND MILITARY GAZETTE RPESS."

1878.

सोसाइटी ने 'रोमन उर्दू जर्नल' नाम से एक मासिक पत्रिका को निकालना भी शुरू किया, जिसमें सदस्यों और ग्राहकों के नाम, बैठक की कार्यवाही और रोमन लिपि में लिखे हिंदी और उर्दू के लेख प्रकाशित किये जाते थे।

देवनागरी लिपि महज एक ध्वनि को एक संकेत से निरुपित करने की विधि ही नहीं है, बल्कि यह भारतीय संस्कृति के उद्‌भव, वैभव और विकास की कथा भी कहती है।

परन्तु ऐसा नहीं है कि देवनागरी की यात्रा निर्बाध रही हो। भारतवर्ष सदैव आक्रान्ताओं एवं विदेशियों के आकर्षण का केंद्र रहा और अंगरेजी की तरह भारतीय भाषाओं में अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण किये गये। मुस्लिम शासकों की छावनियों में जिस उर्दू जुबां का जन्म हुआ उसे फारसी लिपि में लिखा जाने लगा। इसके बावजूद देवनागरी फलती फूलती रही और पांडुलिपियों का निर्माण इस लिपि में होता रहा। लिपि और उसका स्थानीय संस्कृति से सरोकार जानने के लिए आप उड़ीसा के संग्रहालयो की सैर कर सकते हैं। वहाँ भगवान जगन्नाथ से सम्बंधित हजारों पांडुलिपियाँ पत्तों पर उकेरी मिलेंगी। उड़िया लिपि में अक्षर गोल-गोल होते हैं। अपने भ्रमण के दौरान मैंने वहाँ के संग्रहालय संरक्षक से पूछा कि आखिर सभी अक्षर गोल-गोल क्यों हैं? क्या यह जगन्नाथ के रथ के पहिये का सूचक है? प्रत्युत्तर में उन्होंने नकारते हुए कहा कि दरअसल उड़िया लिपि पत्तों पर उकेरकर लिखी जाती थी और गोल लिखने से पत्ते फटते नहीं थे जबकि देवनागरी की तरह सीधा लिखने पर पत्ते फट जाते थे।

भगवान जगन्नाथ के चक्र या चर क्रमण से मानव जीवन के दूसरे संक्रमण के दौर का स्मरण हो आता है। यह संक्रमण औद्योगिक क्रांति और उससे जन्मे युरोप की औपनेवेशिक विस्तार का था। इस संक्रमण ने भी वैश्विक मानव जीवन को अभूतपूर्व ढंग से प्रभावित किया। छापाखाने के आविष्कार ने जहाँ ज्ञान विज्ञान के विस्तारीकरण के नये द्वार खोल दिये, वहीं युरोप को व्हाइट मैन्स रेस्पोंसिबिलिटी के नाम पर औपनेवेशिक हितों को साधने के लिए ग़ुलाम देशों की संस्कृति से खिलवाड़ करने का मौका दे दिया। औपनिवेशिक ताकतों ने देवनागरी लिपि के खिलाफ संगठित और सुनियोजित प्रयास किये ताकि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का रोमनीकरण कर इस देश की सांस्कृतिक पहचान को मिटाकर ब्रिटिश हुकूमत की सार्वभौमिकता को बरकरार रखा जा सके। इसका एक दृष्टान्त हमें २५ मई १८७८ को लाहौर में 'पूर्वी भाषाओं का रोमन वर्णमाला में निरूपण की वकालत हेतु सोसाइटी गठन' (Organisation of a Society for the advocacy of the Roman Alphabet in representing Oriental Languages) विषय पर आयोजित बैठक की कार्यवाही रिपोर्ट से मिलता है। इस बैठक की अध्यक्षता तत्कालीन लाहौर उच्च न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश एल्समी महोदय (Mr. Elsmie) ने की थी और गुजराँवाला के तत्कालीन उपयुक्त मिस्टर टॉलबोर्ट (Mr. Tolbert) ने एक शोधपत्र पढ़ा था, जिसमे उन्होंने रोमन वर्णमाला की वकालत की थी। साथ ही, गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के मिस्टर डिक (Mr. Dick) ने १८३४ से लेकर तब तक के इस तथाकथित आंदोलन के विकास की संक्षिप्त जानकारी रखी थी। इस बैठक के बाद लाहौर में 'रोमन उर्दू सोसाइटी' का स्थायी रूप से गठन किया गया था और यह प्रस्ताव पारित किया गया था कि सोसाइटी का कार्य विस्तार उर्दू के अलावा फारसी, संस्कृत और हिंदी तक भी किया जाये। इस सोसाइटी ने 'रोमन उर्दू जर्नल' नाम से एक मासिक पत्रिका को निकालना भी शुरू किया, जिसमें सदस्यों और ग्राहकों के नाम, बैठक की कार्यवाही और रोमन लिपि में लिखे हिंदी और उर्दू के लेख प्रकाशित किये जाते थे। इस पत्रिका के पहले अंक में वे कारण गिनाये गये थे जिसके कारण भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में लिखना ज़रूरी था। इन कारणों में पहला युरोप की शिक्षा व्यवस्था का यांत्रिक माध्यमों पर आश्रित होना और रोमन का प्रिंटिंग आसान होना बताया गया था; दूसरा कारण भारत की भाषाओं की लिपियों का वैविध्य होना था और उनकी नज़र में यह विविधता पश्चिमी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में बाधा था। मजेदार बात यह है कि उन्होंने तीसरे कारण में यह कहा था कि भारतीय लिपियों में देवनागरी सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु इसमें बहुत अक्षर हैं और यह कठिन है। ज़ाहिर सी बात है कि जब आपको किसी विषय से लगाव ही न हो तो वह कठिन ही प्रतीत होगा।

"भारतवर्ष सदैव आक्रान्ताओं एवं विदेशियों के आकर्षण का केंद्र रहा और अंगरेजी की तरह भारतीय भाषाओं में अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण किये गये। मुस्लिम शासकों की छावनियों में जिस उर्दू जुबां का जन्म हुआ उसे फारसी लिपि में लिखा जाने लगा। इसके बावजूद देवनागरी फलती फूलती रही और पांडुलिपियों का निर्माण इस लिपि में होता रहा।"

सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि जब भारत में औपनिवेशिक ताकतें रोमन लिपि को थोपने की तैयारी कर रही थीं, ठीक उसी समय उनके फ़्रांस, युरोप में ही १८८६ में इंटरनेशनल फोनेटिक एसोसिएशन का गठन किया गया, जिसके सदस्य मुख्य रूप से भाषाविद्‌ और शिक्षक थे जो रोमन लिपि के उच्चारण से असंतुष्ट थे और जिसके

परिणामस्वरूप १८८८ में फोनेटिक अल्फाबेट का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ। आई.पी.ए. का पहला और प्रमुख निर्देशक सिद्धांत 'एक ध्वनि, एक संकेत' था, जो देवनागरी की आत्मा है।

ब्रिटिश भारत में देवनागरी लिपि के लिए संघर्ष में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, पंडित मदन मोहन मालवीय और गौरीदत्त का नाम उल्लेखनीय है। पंडित मदन मोहन मालवीय ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना १८९३ में की थी। नागरी प्रचारिणी सभा और अन्य हिन्दी प्रेमियों के संघर्ष से अंग्रेजों के हिन्दी का रोमनीकरण की मुहीम सफल न हो सकी और कालक्रम में डॉ. श्यामसुंदर दास का पंचमाक्षर के बदले अनुस्वार का सुझाव, गोरख प्रसाद, श्रीनिवास, काका कालेलकर, आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे भाषाविदों का सुझाव देवनागरी लिपि को समृद्ध और मानक बनाता गया। यहाँ तक कि विदेशी मूल के शब्दों यथा doctor, college इत्यादि के उच्चारण को डाक्टर, कालेज इत्यादि की जगह डॉक्टर, कॉलेज इत्यादि तरीके से लिखकर सुधारा गया।

समय का पहिया तेजी से घूमता है और जनमानस भले ही इतिहास विस्मृत कर जाये, किन्तु इतिहास अपने आप को दुहराता प्रतीत होता है। मानव सभ्यता की तीसरी सबसे बड़ी क्रांति अर्थात् सूचना और संचार क्रांति तथा उससे उपजे वैश्विक उदारीकरण और बाज़ारवाद ने एक बार फिर भारत को नव औपनिवेशिक दासता में जकड़ लिया है। इस बार द्विध्रुवीय विश्व की 'सूचना शक्ति है' के नारे को बदलकर 'सूचना उपभोक्ता सामग्री है' के नारे पर जोर दिया जा रहा है। इस नारे में संघर्ष की कोई गुंजाईश नहीं है, सो यह नारा कोमल या सॉफ्ट है। सॉफ्टवेयर और सूचना तकनीक के बल पर भारतीय संस्कृति पर इसके ही होनहारों के द्वारा मृदुल एवं अघोषित हमला करवाया जा रहा है ताकि बाज़ार के बड़े खिलाड़ी अपना हित साध सकें। माँ को माथे की बिंदी को हटाकर और साड़ी की जगह टॉप और जीन्स पहनने के विषय में उनका खयाल उनके कान्वेंट शिक्षित और तथाकथित नादान बेटे कर रहे हैं ताकि उनके बहुदेशीय आका उन्हें भी लॉलीपॉप चटा सकें। हिंदी की बात ऐसे बाजारू उपन्यास लेखक करने लगे हैं, जिन्होंने कभी हिन्दी पढ़ी ही नहीं और जिनको नग, नाग, नगर, नागर और नागरी का भेद पता ही नहीं है। हिंदी को रोमन में लिखने की वकालत करने वालों की नज़र बी.बी.सी. विश्व सेवा का २० फरवरी २०१३ का पत्रिका प्रसारण खोल सकता है। इस प्रसारण का शीर्षक था, 'Could a new phonetic alphabet promote world peace?' इसमें यह कहा गया था कि अगर आप वियतनाम के

> *अगर हिंदी के तथाकथित रहनुमा सचमुच हिंदी को विश्व फलक पर देखना चाहते हैं, तो स्तरीय साहित्य लिखें और भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान की वकालत करें। क्या गीतांजलि के मूल बंगला संस्करण को रोमन में लिखा गया या फिर विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में उसके अनुवाद किये गये?*

एक रेस्तरां में हैं और एक कटोरा सूप चाहते हैं तो आप स्थानीय व्यक्ति से कह सकते हैं कि आप "pho" कहाँ पायेंगे। थोड़ी हिचकिचाहट के बाद वह व्यक्ति आपको एक किताब थमा देगा क्योंकि आपने "pho" में vowel पर जोर नहीं दिया और इसका मायने किताब हो गया। रोमन लिपि की अवैज्ञानिकता से तंग आकर सीरिया के एक इंग्लैंड निवासी बैंकर जबर जॉर्ज जब्बौर (Jaber George Jabbour) ने SaypU, के नाम से एक वर्णमाला बनायी है जो पारम्परिक ध्वनि पर आधारित वर्णमालाओं के दोषों से मुक्ति दिलाकर वैश्विक शांति की स्थापना करेगी।

परन्तु क्या ऐसा नहीं लगता है कि यह सब शोधपत्रों तक ही सीमित नहीं है? क्या व्यवहार में यह संभव है? क्या कृत्रिमता हमारी प्रकृति को बदल सकती है? तो फिर एस्पेरन्तो (Esperanto) ही सभी यूरोपीय भाषाओं की जगह क्यों नहीं ले पाया? अगर हिंदी के तथाकथित रहनुमा सचमुच हिंदी को विश्व फलक पर देखना चाहते हैं, तो स्तरीय साहित्य लिखें और भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान की वकालत करें। क्या गीतांजलि के मूल बंग्ला संस्करण को रोमन में लिखा गया या फिर विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में उसके अनुवाद किये गये? कहने का आशय यह है कि अगर देवनागरी लिपि में लिखी गयी हिंदी में सचमुच कोई पठनीय सामग्री होगी तो लोग देवनागरी लिपि सीखकर उसे पढ़ेंगे या फिर अन्य भाषाओं में हाथों-हाथ उसका अनुवाद होगा। हिंदी को रोमन में लिखने के ख्याल का ख्याली पुलाव पकाने वाले पकाना चाहें तो शौक से पकायें, हम तो इस देश के विविध व्यंजनों से उठती 'देसिल बयना सभ जन मिट्ठा' (अपने देश की बोली सभी लोगों को मीठी लगती है) की महक से संतुष्ट हैं।■

डॉ. दरीगा कोकऐवा

१९ अप्रैल १९७९ को जन्म। अल-फराबी कजाख नेशनल यूनिवर्सिटी से दर्शनशास्त्र और राजनीति विज्ञान में विशेषता प्राप्त की तथा धार्मिक, दार्शनिक नृविज्ञान, दर्शन एवं संस्कृति में पी.एच.डी.। दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी भाषा का प्रशिक्षण। पिछले दस सालों से हिन्दी अध्यापन। मोनोग्राफ 'हिंदू धर्म', 'धर्म और समाज : आधुनिक प्रवचन', अध्ययन गाइड 'हिंदू धर्म का इतिहास', 'भारतीय भाषाशास्त्र का परिचय', 'हिन्दी भाषा के वाक्यांश' एवं 'हिंदी भाषा के समानार्थी' प्रकाशित। सम्प्रति - एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी शिक्षक, पूरवी फ़कलटी, अल-फराबी कजाख राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, अल्माटी, कज़ाकिस्तान।

ईमेल - dmkbuddy@mail.ru

कजाखस्तान में हिंदी शिक्षण

आजादी पाने के बाद अंतरराष्ट्रीय समुदाय में कजाखस्तान गणराज्य के कई देशों के साथ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संबंधों में काफी वृद्धि हुई है। भारत कजाखस्तान गणराज्य की स्वतंत्रता मान्यता हुए पहले देशों में से एक है। इस समय से दोनों देशों के बीच में सहयोग विस्तार हो रहा है।

सभी को मालूम है कि भारत गणराज्य दक्षिण एशियाई क्षेत्र का सबसे बड़ा विकासशील देश है। हिन्दी भारत गणराज्य की आधिकारिक भाषा है। हिंदी भाषा प्रसार की दृष्टि से दुनिया में चौथे स्थान पर है।

वर्तमान चरण में कजाख-भारतीय संबंधों को देखते हुए इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि दोनों देशों के बीच में राजनीतिक और आर्थिक संबंध प्राचीन काल से शुरू हुआ है। उदाहरण के लिए सिल्क रोड को कह सकते हैं। सिल्क रोड हमारे देशों के बीच एक पुल जैसा था। हम कजाखस्तान-भारत के रिश्ते को बनाते हुए दो अवधि को कह सकते हैं। पहले दशक (१९९२ से २००२ तक) - सीधे राज्यों के बीच राजनीतिक और कानूनी संबंधों की स्थापना है। दूसरी अवधि (२००२ से - २००६ तक) कजाखस्तान गणराज्य और भारत गणराज्य के बीच कानूनी दस्तावेजों के कैदियों के व्यावहारिक कार्यान्वयन है। तथा कजाकिस्तान और भारत के बीच अन्य आशाजनक क्षेत्रों के विस्तार के लिए आधार है। इसके बारे में हमारे राष्ट्रपति नूरसुल्तान नजरबायेव ने कहा कि 'मैं हमारे सक्रिय, दीर्घकालिक और सतत सहयोग में कजाकिस्तान और भारत का भविष्य देखता हूं।' यह सच है कि आजकल दोनों देशों के बीच परंपरागत मैत्रीपूर्ण संबंध समय से बढ़ते जाते हैं ।

इन संबंधों के रखरखाव और विकास के लिए कजाखस्तान की हिंदी बोलनेवाले विशेषज्ञों की बड़ी जरूरत थी जो भारत के साहित्य, इतिहास और संस्कृति जानते हैं। इसलिए सितंबर १९९२ में अल-फराबी कजाख राष्ट्रीय

> *सभी को मालूम है कि भारत गणराज्य दक्षिण एशियाई क्षेत्र का सबसे बड़ा विकासशील देश है। हिन्दी भारत गणराज्य की आधिकारिक भाषा है। हिंदी भाषा प्रसार की दृष्टि से दुनिया में चौथे स्थान पर है।*

विश्वविद्यालय की पूरवी फ़कलटी में भरतीय विभाग खोला गया था। हिंदी और उर्दू भाषाएँ सिखाने लागे। बीते हुए वर्षों में लगभग १५० स्नातकों की तैयारी की गयी थी। उन में बैचलर ऑफ साइंस, मैजिस्ट्रेट का पद व डॉक्टरेट हैं। हमने भारतीय विद्या के अध्ययन से संबद्ध किताबों की तैयारी की है जैसा भारतीय भाषाशास्त्र का परिचय, समानार्थी शब्द हिन्दी, भारतीय धर्म का इतिहास और आदि।

कजाखसतान में हिंदी विभागों के सारे छात्रों के आदर्श वाक्य यह है 'जो बोलूं हिंदी में बोलूं, जो सोचूं हिंदी में सोचूं।' हम हिंदी में बोलकर, हिंदी में सोचकर दोनों देशों के कजाकिस्तान और भारत के बीच सहयोग हमेशा के लिए रखने का प्रयास करेंगे।

आजकल मार्किट का जमाना है। अतः आर्थिक विकास करना, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक और वित्तीय संबंधों का विकास करना सभी देशों का कर्तव्य है। इसी कारण हमारे देश ने कजाख नेशनल बैंक को एक बड़ा टास्क दिया है। इस टास्क का उद्देश्य है कजाख-पश्चिमी और कजाख-पूर्वी भाषाओं (और इसके विपरीत) के वाक्यांश तैयार करना।

अभी इस कार्य को निष्पादन के लिए हम कजाख नेशनल बैंक के साथ बैंक प्रणाली के कर्मचारियों के लिए क़ज़ाख़-हिन्दी, हिन्दी-क़ज़ाख़ वार्तालाप-पुस्तिका तैयार कर रहे हैं। उस वार्तालाप-पुस्तिका में कजाकिस्तान के बैंकिंग प्रणाली के बारे में जानकारी दी जाती है। वार्तालाप-पुस्तिका सभी विदेशियों के लिय उपयोगी हैं जो भारत या कजाखस्तान की यात्रा करना चाहते हैं। वार्तालाप-पुस्तिका में क़ज़ाखस्तान की बैंक प्रणाली, राष्ट्रीय बैंक, क़ज़ाखस्तानी बैंक, वित्त तथा क्रेडिट कार्ड, खाता खोलने आदि के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है। वार्तालाप-पुस्तिका को तैयार करने का यह एक अत्यंत सराहनीय एवं विलक्षण प्रयास है। यह निश्चित रूप से ना केवल क़ज़ाख और हिन्दी भाषा सीखने हेतु सहायक होगा अपितु बैंकिंग शब्दावलियों के दोनों भाषाओं में प्रचार एवं प्रसार हेतु अत्यंत उपयोगी सिध्द होगा। बैंक प्रणाली के कर्मचारियों के लिए क़ज़ाख़-हिन्दी, हिन्दी-क़ज़ाख़ वार्तालाप-पुस्तिका की सामग्री तैयार करना भी हमारा बड़ा उद्देश्य है।

मेरा ऐसा मानना है कि किसी भी संस्कृति को समझने के लिये उस देश की भाषा पुल का कार्य करती है। इसलिये छात्रों को किसी भी विदेशी भाषाओं को सिखाने के लिये भाषा की संस्कृति समझना चाहिए। क्योंकि भाषा की सांस महसूस करने के बिना किसी और भाषा को सिखना संभव नहीं है।

कजाखसतान में हिंदी विभागों के सारे छात्रों के आदर्श वाक्य यह है 'जो बोलूं हिंदी में बोलूं, जो सोचूं हिंदी में सोचूं।' हम हिंदी में बोलकर, हिंदी में सोचकर दोनों देशों के कजाकिस्तान और भारत के बीच सहयोग हमेशा के लिए रखने का प्रयास करेंगे।

इस आदर्श वाक्य का उपयोग करते हुए आखिर में गिरिजकुमार माथुर की कविता का उल्लेख करना चाहूँगी -

यह डोर में सबको जो है बांधती है
वह हिंदी है।
हर भाषा को सगी बहन जो मानती
वह हिंदी है।
भरी-पूरी हैं सभी बोलियां
यही कामना हिंदी है।
गहरी हो पहचान आपसी
यही साधना हिंदी है।
तत्सम, तदभव, देश विदेशी
सब रंगों को अपनाती
यही भाषा हिंदी है।■

(यह आलेख तैयार करने में अकादमिक मामलों की उपडीन एवं हिन्दी शिक्षक **ज़उरे इसकाकोवा** ने सहायता की है।)

अनुपमा दीक्षित

उत्तर भारत में जन्म। भारत, वेस्ट इंडीज़, और अमरीका में अध्ययन। पी.एच.डी.। पिछले कई दशकों से अमरीका की वाशिंगटन और सेंट लुइस विश्वविद्यालयों में 'पर्यावरण और स्वास्थ्य' क्षेत्र में शोध कार्य के बाद अब अवकाश प्राप्त। पिछले एक साल से अहिन्दीभाषियों को हिन्दी भाषा का शिक्षण और स्वतन्त्र लेखन।

सम्पर्क : dixita4@gmail.com

विज्ञान की प्रगति बनाम कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा

औषधीय पौधों का उद्यान, कम्पनी बाग़, सहारनपुर। छाया : अनुपमा दीक्षित

घबराइये नहीं, व्यवसाय से वैज्ञानिक रही हूँ इसलिये मेरे आलेख का उद्देश्य विज्ञान का उपहास करना बिलकुल भी नहीं है। मैं पिछले दिनों इंडियन साइंस कांग्रेस (मुंबई) में प्रस्तुत एक संस्कृत ग्रंथ पर आधारित लेख, जो काफी सुर्ख़ियों में रहा, की भी विवेचना नहीं कर रही हूँ। लेकिन इसी सन्दर्भ में कहना चाहूँगी कि विज्ञान का सर्जन कभी शून्य (void) में नहीं होता न ही यह शून्य में विकसित होता है। विज्ञान में मौलिक विचारों और अनुसंधान का आधार भी अधिकतर प्राप्य तथ्य (facts) व प्रमाण (evidence) होते हैं। यह तथ्य और प्रमाण आधुनिक भी हो सकते हैं और पुराने अथवा पारम्परिक भी। इन्हीं के आधार पर रिसर्च अवधारणा या हाइपोथिसिस। (Hypothesis : A supposition or proposed explanation made on the basis of limited evidence as a starting point for further investigation) तय की जाती है जिसे हम नये आँकड़ों और अन्य प्रकार के प्रमाणों से जाँचने का प्रयास करते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में जो भी अपनी खोज सर्वप्रथम प्रकाशित करता है वही उसका सृजनकर्ता समझा जाता है। कभी-कभी एक से अधिक जगहों या लोगों ने एक ही विषय पर शोधकार्य किया, परन्तु मान्यता अपनी खोज सबसे पहले प्रकाशित करनेवाले/वालों को ही मिलती है। आजकल तो इंटरनेट के कारण विचारों का प्रसार व आदान-प्रदान बहुत आसान हो गया है लेकिन पहले कई बार ऐसा भी हुआ है कि नयी विषय-वस्तु या संकल्पना (कॉन्सेप्ट) पर अलग-अलग स्थानों व सभ्यताओं में स्वतन्त्र और समान्तर चिंतन या खोजें हुईं।

विभिन्न, विशेषकर पुरानी, सभ्यताओं में सदियों से विचारों का आदान-प्रदान होता चला आ रहा है। भारत कभी 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था और सदा ही विदेशियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना रहा। कुछ सदियों पूर्व भी समुद्र और थल मार्ग से पहुँचना कठिन तो था पर असंभव नहीं था। भारत का इतिहास गवाह है कि भारत का पड़ोसी और दूर देशों से परस्पर ज्ञान, धर्म और संस्कृति का आदान-प्रदान रहा है। प्राचीन भारत में खगोल-विद्या, आयुर्वेद, गणित, इत्यादि बहुत विकसित थे। ऐसा बहुत लोग जानते हैं कि भारत में आयुर्वेद के साथ-साथ यूनानी (ग्रीक Ionian) चिकित्सा प्रणाली का भी देसी चिकित्सा के रूप में प्रचलन

> पुरानी सभ्यताओं में सदियों से विचारों का आदान-प्रदान होता चला आ रहा है। भारत कभी 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था और सदा ही विदेशियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना रहा।

रहा है। वैद और हकीम दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे माने गए हैं। यूनानी चिकित्सा-विधि अरब और फ़ारस से होती हुई भारत पहुँची थी। उधर, शून्य यानी 'ज़ीरो, सिफ़र' का प्रयोग एक अंक की भाँति भारत में सर्व-प्रथम हुआ। हिन्दी के अंक फ़ारस (ईरान)-अरब होते हुए यूरोप और फिर विश्व में फैले। बीजगणित (Algebra) की भी यही कहानी है। आज अंग्रेज़ी के न्यूमरल्स यानी अंक हिन्दू-अरेबिक कहलाते हैं। पूर्वी अरब देशों से लेकर मिश्र तक आज भी इन अंकों को 'अर्क़ाम हिंदिया' कहा जाता है। भारत से यूरोप व सुदूर देशों तक यह यात्रा पूरी होने में सैंकड़ों वर्ष या कहिये सदियाँ लगीं और बहुत से पड़ावों पर इस ज्ञान का विकास भी हुआ। ऐसे कई दृष्टान्त मिल जायेंगे।

कालांतर में यूरोप के अन्य देश जैसे कि डच, पुर्तगाल, फ़्रांस और फिर ब्रिटेन भारत में अपने-अपने उपनिवेश (कॉलोनी) स्थापित करने में सफल हुये जिनमें ब्रितानी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लगभग पूरे भारत में अपनी जड़ें जमा ली थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्य ध्येय तो ब्रिटेन के व्यापार में बढ़ोतरी करना ही था। उसने पहले कलकत्ते और फिर पश्चिमी उत्तर भारत के सहारनपुर नगर में बोटैनिकल गार्डन बनाये ताकि भारत की प्राकृतिक सम्पदा की जानकारी हासिल की जाए व फूल और पौधों की नई फसलों को यहाँ उगाया जा सके। सहारनपुर का बोटैनिकल गार्डन आज भी 'कम्पनी बाग़' के नाम से जाना जाता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों व वनस्पति-शास्त्रियों ने सबसे पहले चीन से लाकर चाय, जापान से लौकाट, परसिमन आदि फल, मेक्सिको से पपीता, और स्पेन से 'फूलगोभी' इत्यादि उगाने में सफलता हासिल की। तदनन्तर इन्हीं फल-सब्जियों की पहचान भारतीय उपज (product) के रूप में होने लगी। अब यह हाल है कि उत्तर भारतीय चाहे भारत में रहें या विदेश में, फूलगोभी की सब्ज़ी उनके यहाँ बन ही जाएगी। पहली बार चीन से लाकर लीची और आड़ू इसी स्थान पर उगाये गए थे। इस सन्दर्भ में याद रखना बहुत आवश्यक है कि ज्ञान-गंगा का प्रवाह एक-तरफ़ा नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक से शुरू होकर बहुत से भारतीय पेड़-पौधों के नमूने व बीज एकत्र करके ब्रिटेन भेजे जाते थे। बहुत से ब्रितानियों ने विशेष संकलन और यात्रायें कीं जिनका लक्ष्य जीवित या फॉसिल रूप में उपस्थित भारतीय जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों का रिकॉर्ड बनाना था व भारत के कोने- कोने से एकत्रित पेड़-पौधों के सुखाये हुए नमूने, बीज व जीव-जन्तुओं के जीवाश्म (fossil) इंग्लैंड भेजना था जहाँ उन पर शोध कार्य होता था। बहुत सारी प्रजातियां प्रदूषण व अन्य कारणों से भारत से

दुर्लभ शाखीय साईकस, कम्पनी बाग़, सहारनपुर। छाया : अनुपमा दीक्षित

> ज्ञान-गंगा का प्रवाह एक-तरफ़ा नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक से शुरू होकर बहुत से भारतीय पेड़-पौधों के नमूने व बीज एकत्र करके ब्रिटेन भेजे जाते थे।

लुप्त हो गयीं हैं लेकिन आज भी उनके नमूने आपको इंग्लैंड के 'रॉयल बोटेनिक गार्डन्स, क्यू' के हरबेरियम या संकलन में मिल जायेंगे। इनमें भारतीय पेड़-पौधों के वह चित्र भी शामिल हैं जो अंग्रेज़ों के तत्त्वाधान में भारतीयों से रेखांकित/बनवा कर भेजे गए थे। वे चितेरे अधिकतर गुमनाम ही रहे।

'ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़' पुस्तक (On The Origin of Species By Means of Natural Selection, 1859) के लेखक चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) कभी भारत नहीं आये परन्तु अपने समकालीन जन्तु, वनस्पति, और/या जीवाश्म विशेषज्ञों, जिसमें भारत में कार्यरत अंग्रेज़ भी शामिल थे, के संपर्क में रहे। सहारनपुर के'कम्पनी बाग़' के तत्कालीन अधीक्षकों (Superintendents) जॉन.एफ. रॉयल (John F. Royle), ह्यू फाकनर (Hugh Falconer), विलियम जमेसोन (William Jameson) इत्यादि का रॉयल बोटेनिक गार्डन्स, क्यू, इंग्लैंड से संपर्क था जिसका लाभ डार्विन को भी मिला। रॉयल बोटेनिक गार्डन्स, क्यू के एक पूर्व डायरेक्टर विलियम जे. हुकर (William J. Hooker) के पुत्र जोसेफ़ डी. हुकर (Joseph D. Hooker) जिन्होंने भारत की ३ वर्ष (सन् १८४८-१८५१) की यात्रा की थी, डार्विन के

अंतरंग मित्र थे। जोसेफ़ डी. हुकर ने सर्वप्रथम हिमालय में सर्वे करके पेड़-पौधों के नमूने एकत्र किये और वे अपने पिता के पश्चात रॉयल बोटेनिक गार्डन्स, क्यू, के डायरेक्टर बने (१८६५-१८८५)। अपनी १८५४ में प्रकाशित पुस्तक 'Himalayan Journals' भी उन्होंने डार्विन को समर्पित की थी। रॉयल के बाद जीवाश्म-विशेषज्ञ फाकनर सहारनपुर के कंपनी बाग़ के अधीक्षक नियुक्त हुए (१८३२-१८४१)। उन्होंने सहारनपुर के पास की शिवालिक पहाड़ियों से एकत्रित बहुत सारे जीवाश्म चार्ल्स डार्विन को भेजे और विकास की एक थ्योरी भी प्रस्तुत की। तदनन्तर, रॉयल की तरह फाकनर भी इंग्लैंड चले गए और अपने साथ ७० पेटी सुखाए गए पेड़-पौधों के नमूने (हरबेरियम) और ४० पेटी जीवाश्म भी लेकर गए। रॉयलजी का संकलन अब लिवरपूल विश्वविद्यालय, इंग्लैंड के हरबेरियम में सुरक्षित है।

पिछले कुछ वर्षों में चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रस्तुत जातियों व प्रजातियों (species) के उद्भव (origin) और विकास (evolution) से संबंधित 'थ्योरी की मौलिकता के विषय में प्रश्न उठे हैं। तक़रीबन १०० वर्षों के पश्चात जिनेटिसिस्ट जे.बी.एस. हाल्डेन (J.B.S. Haldane) ने, जिन्होंने और वैज्ञानिकों के समान बाद में डार्विन की थ्योरी का विस्तार किया और जो इंग्लैंड से आकर भारत में बस गए थे, रीढ़ की हड्डी वाले जन्तुओं के क्रमिक-विकास की थ्योरी की हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार विष्णु भगवान के दशावतार स्वरूपों से समानता देखी। डार्विन की समकालीन थिओसॉफिस्ट हेलेना ब्लावट्स्की (Helena Blavatsky) सबसे पहले इसी निष्कर्ष पर पहुँची थीं (१८७७)। दक्षिण भारत में आज भी भगवान विष्णु के दस अवतारों के मन्दिर मिल जायेंगे। यह कहना बहुत कठिन है कि डार्विन, उनके सहयोगियों या उनके जैसे लोगों को और प्रमाणों व तथ्यों के साथ-साथ प्रेरणा 'दशावतार' से भी मिली थी। अगर मिली होगी तो भी आश्चर्य की बात नहीं चूँकि ज्ञान का विकास इसी प्रकार होता है। कहा जाता है कि न्यूटन जी को भी गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत (gravitation) की प्रेरणा पेड़ से गिरते सेब को देख कर मिली थी। हज़ारों सालों से पके फल पेड़ से धरती पर टपकते आये हैं परन्तु इस के पीछे जो भौतिकी का सिद्धांत था उसको न्यूटन जी ही पकड़ पाए क्योंकि उस समय उनका ध्यान उसी तरह के विचारों में उलझा हुआ था। अंग्रेजी में कहें तो वही "He was in the right frame of mind' यानी 'He was in the right place at the right time' वाली बात हो जाती है।

> विश्व के अनेक धार्मिक ग्रंथों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांत या यंत्र जैसे विवरण मिलते हैं किन्तु ऐसे हर विवरण की प्रामाणिकता संभव नहीं है और शायद आवश्यक भी नहीं है। ज़रूरी यह है कि आज के सन्दर्भ में नई और पुरानी दुनिया में, भूगर्भशास्त्र के सभी नियमों को तोड़ती हुई भी, विज्ञान-गंगा निरंतर चहुँ-ओर बहती रहे।

इक्कीसवीं सदी में भी विचारों का प्रवाह निर्बाधित है। अब 'बौद्धिक संपदा' के विषय में जागरूकता अवश्य बढ़ रही है। उदाहरण के लिए पश्चिमी देशों में, खासकर पिछले कई दशकों से, 'ऑल्टरनेटिव मेडिसिन' की खोज में काफी प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका आधार उपयोग और औषधियाँ हैं। भारत में नीम के कई पारम्परिक उपयोग जैसे नीम की दातुन (chew stick) और आजकल नीम से बना टूथपेस्ट, साबुन आदि प्रचलित हैं। हमारी एक जानकार अमेरिकन वैज्ञानिक ने उसी को आधार बना कर नीम के सत (extract) का मुँह के अन्दर पाये जाने वाले बैक्टीरिया पर आधुनिकतम तरीकों से परीक्षण किया। एक छात्र ने दक्षिण अमेरिका के अमेज़न नदी के जंगलों से वहां के मूल निवासियों द्वारा दातुन की तरह उपयोग में लाये जाने वाले दूसरे पौधों पर शोध की व पीएचडी प्राप्त की। एक और साथी अमेज़न से लोक (folk or traditional) औषधियों के रूप में काम में आने वाले पौधों को जंगलों से लाकर अपनी अमरीकी प्रयोगशाला में औषधीय गुण जानने के लिए परीक्षण करते थे। इसी तरह अमरीका में हल्दी के कीटाणु-नाशक या कैंसर-विरोधी गुणों और करेले के सत के डायबिटीज-निरोधक गुणों पर शोध हुआ है। संक्षेप में उपयोगिता का ज्ञान भारत में या कहीं और (स्थान पर) था परन्तु शोध कार्य भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी हुआ। यह बात अलग है कि शायद इन पर आधारित दवायें वापिस ग़रीब देशों को ढेर सारे पैसों में बेची जायें।

सिंधु-घाटी अथवा मिस्र इत्यादि अति प्राचीन सभ्यताओं की संस्कृतियाँ विभिन्न प्रकार से विकसित हुईं और फिर लुप्त हो गईं। उनके साथ ही जो वैज्ञानिक और दूसरी उपलब्धियां हुई थीं वह भी विलुप्त हो गईं। विश्व के अनेक धार्मिक ग्रंथों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांत या यंत्र जैसे विवरण मिलते हैं किन्तु ऐसे हर विवरण की प्रामाणिकता संभव नहीं है और शायद आवश्यक भी नहीं है। ज़रूरी यह है कि आज के सन्दर्भ में नई और पुरानी दुनिया में, भूगर्भशास्त्र के सभी नियमों को तोड़ती हुई भी, विज्ञान-गंगा निरंतर चहुँ-ओर बहती रहे। इस वैज्ञानिक की यही आकांक्षा और प्रार्थना है। चूँकि ठहरे हुए पानी की गुणवत्ता ऑक्सीजन कम होने से घटती जाती है और सबसे पहले जीवन की उत्पत्ति जल में ही हुई थी। अगर ठहराव ही विष बन जाये तो इससे बढ़कर विज्ञान के लिए क्षति क्या होगी? ■

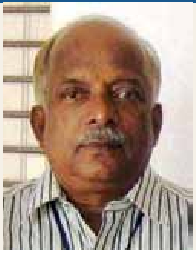

रमेश तैलंग

२ जून १९४६ को टीकमगढ़, मध्यप्रदेश में जन्म। प्रकाशित कृतियाँ : उड़न खटोले आ, एक चपाती, कनेर के फूल, टिन्नी जी ओ टिन्नी जी, इक्यावन बालगीत, लड्डू मोतीचूर के, मेरे प्रिय बालगीत (सभी बालगीत-संग्रह)। प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कवितायें, ग़ज़लें, गीत, लेख, साक्षात्कार और समीक्षाएं प्रकाशित। हिंदी रूपांतर : पीटर पैन। केंद्रीय साहित्य अकादेमी के बाल साहित्य पुरस्कार एवं भारतेन्दु हरिशचन्द्र पुरस्कार से सम्मानित। सम्प्रति - स्वतंत्र लेखन।

सम्पर्क : ५०६ गौड़गंगा-१ सोसायटी, वैशाली, सेक्टर-४, गाज़ियाबाद-२०१ ०१२ ईमेल- rtailang@gmail.com

देखी तेरी दिल्ली-१

नई दिल्ली इलाके में जहां आज पालिका बाज़ार है, वहां ७०-८० के दशक में कभी थिएटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग और काफ़ी हाउस हुआ करते थे। काफ़ी हाउस में नामचीन लेखकों, कलाकारों का जमघट लगा रहता था और साहित्य-कला-संस्कृति-राजनीति पर बहस-मुबाहसे चलते रहते थे। थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग में हिंदी साहित्य सम्मेलन दिल्ली का भी शायद कार्यालय था और कभी-कभार वहां साहित्यिक गोष्ठियां होती रहती थीं। ऐसी ही एक गोष्ठी में मैंने डॉ. रवीन्द्र भ्रमर का नवगीत पाठ सुना था। कनाट सर्कस में रीगल बिल्डिंग से सटा गेलार्ड रेस्ट्रां और उससे सटा हुआ टी हाउस साहित्यिकारों-पत्रकारों का एक और स्थायी अड्डा था जिसकी जमघटों का पूरा ब्यौरा बलदेव बंशी द्वारा संपादित किताब 'दिल्ली टी हाउस' में मौजूद है। साहित्यकारों-पत्रकारों, जिनमें-चुप्पे हुड़दंगे, पियक्कड़-चिपक्कड़ सभी तरह के व्यक्तित्व थे, के हर शाम मिलने के लिये 'टी हाउस' जैसी जगह दिल्ली के इतिहास में शायद न तो दूसरी थी और न ही कभी होगी। सुप्रसिद्ध गांधीवादी लेखक-नाटककार विष्णु प्रभाकर के लिये तो वहां एक टेबल सुरक्षित ही रहती थी। हर शाम उन्हें अजमेरी गेट से कनाट प्लेस तक पैदल आते-जाते अक्सर देखा जा सकता था। वेशभूषा वही खादी का कुर्ता-पायजामा, सफ़ेद टोपी, कंधे पर लटका झोला और चेहरे पर हमेशा की तरह सौम्य भाव।

उन्हीं दिनों कादंबिनी पत्रिका में प्रूफ़रीडर के पद पर कार्यरत स्वामीशरण स्वामी से मेरा परिचय हुआ जो जनवादी कविताओं का एक संकलन संपादित कर रहे थे। उस संकलन में अनेक कवियों की रचनाओं के साथ मेरे भी दो गीत और एक गज़ल शामिल किये गए थे। स्वामीशरण स्वामी नाटे कद और श्याम वर्ण के व्यक्ति थे। वे हिंदुस्तान टाइम्स की यूनियन की मीटिंगों में सक्रिय कार्यकर्ता बनकर अक्सर जनवादी/क्रांतिकारी कविताएं टेबलनुमा मंच से सुनाया करते थे। एक बार वे मुझे हनुमान मंदिर के सामने स्थित पश्चिम बंगाल सूचना केंद्र में आयोजित एक साहित्यिक संगोष्ठी में ले गए। वहां पहली बार मुझे सुप्रसिद्ध कथाकार, नाटककार, अभिनेता और बलराज साहनी के छोटे भाई भीष्म साहनी तथा हिंदी सानेट को प्रतिष्ठित करने वाले वरिष्ठ कवि त्रिलोचन के दर्शन हुए। त्रिलोचन जी ने अध्यक्ष के रूप में

सबसे बाद में 'ताप के ताये हुए दिन' से कुछ कविताएं सुनाईं। उनसे पहले अन्य कवियों के साथ हम जैसे नौसिखिए कवियों को भी एक दो कविताएं सुनाने का मौका मिला। तेज मिजाज के गीत लिखने का तब नया-नया शौक लगा था मुझे उन्हीं में से एक गीत, 'अपमानित होगी जब खुली हथेली/तो फ़िर/बंद मुट्ठियां होंगीं', और एक गज़ल 'जिस तरह से सवाल उठते हैं, उस तरह से मिले जवाब कोई/बढ़ गईं दिन-व-दिन क्यूं तकलीफ़ें, पूछे उनसे जरा हिसाब कोई' मैंने सुनाई थीं।

इन दिनों दैनिक हिंदुस्तान के संपादक श्री चंदूलाल चंद्राकर थे और उनके कार्यकाल में प्रशिक्षु उपसंपादकों का एक पूरा समूह भर्ती हुआ था। इन प्रशिक्षुओं में कुछ मेरे मित्र बने जिनके नाम सतीश कौशिक, सतीश सागर और आनंद शर्मा (पूरा नाम-आनंद वल्लभ शर्मा) थे। सतीश कौशिक फ़िल्म समीक्षाएं लिखा करते थे। सतीश सागर और आनंद शर्मा कवि थे। यदि मैं गलत नहीं हूं तो आनंद शर्मा के माध्यम से ही मैं अपने प्रिय गीतकार स्व. रमेश रंजक से मिला था। मौका था एन.डी.एम.सी के सभागार में आयोजित एक कवि सम्मेलन जिसमें रमानाथ अवस्थी, रामावतार त्यागी, रमेश गौड, मधुर शास्त्री आदि के साथ रमेश रंजक ने भी कविता पाठ किया था। रामावतार त्यागी ने *'इस सदन में मैं अकेला ही दिया हूं, जब मिलेगी रोशनी मुझसे मिलेगी'* तथा *'बस यही अपराध मैं हर बार करता हूं/आदमी हूं, आदमी से प्यार*

हमारी आसन्न कठिनाई भांपकर सामने के किरायेदार राजकुमार गुप्ता और उनकी पत्नी, जिन्हें हम सब भाभीजी कहते थे, ने सोने के लिये अपनी रसोई हम नवदंपति के हवाले कर दी। तीन-चार दिनों तक मेरा और कमलेश का गुजारा वहां 'पिया का घर' फ़िल्म की तरह हुआ।

करता हूं', रमानाथ अवस्थी ने *'भीड़ में भी रहता हूं वीरान के सहारे/जैसे कोई मंदिर किसी गांव के किनारे'* और रमेश रंजक ने अपना नया गीत सुनाया था *'तिनका जल तैरेगा, डूबेगी कंकरी/मत बोलो, मत बोलो, वाणी दशकंधरी।'*

कवि सम्मेलन समाप्त होने के बाद मैं और रमेश रंजक उनके आरामबाग स्थित निवास पर गए। वहां उनसे उनका एक और गीत उन्हीं के स्वर मे सुनने का अवसर मिला- *'कभी-कभी यह क्या होता है, कान चले जाते हैं कहीं पड़ोस में/सारी रात खड़े रहते हैं ओस में।'* बाद में रमेश रंजक जब गीतों से अतुकांत कविताओं की ओर उन्मुख हुए तो मुझे अच्छा नहीं लगा था और फ़िर उनका अचानक दुनिया से चला जाना तो मेरे लिये किसी आघात से कम नहीं था। उन्होंने बच्चों के लिए भी कविताएं लिखीं यह मेरे लिये एक सुखद बात थी।

एक और साहित्यिक मित्र श्री दुर्गा प्रसाद नौटियाल की यहां याद आ रही है, जो अब इस दुनिया में नहीं हैं। नौटियाल जी प्रूफ़रीडर के रूप में हिंदुस्तान टाइम्स समूह में आए थे और उन्हें अस्थायी सेवा समाप्ति के बाद पुनर्नियुक्ति तथा पत्रकार का दर्ज़ा लम्बी मुकदमेबाजी के बाद मिला था। फ़िर कालांतर में वे उपसंपादक के पद से लेकर मुख्य उपसंपादक पद तक पहुंच गए थे। साप्ताहिक हिंदुस्तान में वे बच्चों का पृष्ठ देख रहे थे और उसके लिये कभी-कभी मुझसे भी बाल कविताएं ले लिया करते थे। पहली बार में ही वे मुझे मितभाषी और सहृदय व्यक्ति लगे थे मुझे। बाल कविताओं के अलावा और भी कई साहित्यक मुद्दों पर उनसे चर्चा हो जाया करती थी।

चंद्राकर जी के बाद जब विनोद कुमार मिश्र ने दैनिक हिंदुस्तान का सम्पादन भार संभाला तो उनसे मेरा अचानक परिचय हुआ। परिचय के पीछे एक कारण और भी था। मेरे सजातीय श्री पद्मनाभ तैलंग भोपाल में जाने-माने स्वतंत्रता सैनानी होने के अलावा सरकारी मान्यता प्राप्त वरिष्ठ पत्रकार थे और 'साधना' नाम का एक टेब्लोय्ड अखबार निकाला करते थे। कुछ समय के लिये वे दैनिक हिंदुस्तान के लिये अंशकालीन संवाददाता (स्ट्रिन्जर) के रूप में भोपाल से खबरें भी भेजने का काम करते। पुराने कांग्रेसी थे और मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री अर्जुन सिंह से उनकी घनिष्ठता थी। दैनिक हिंदुस्तान के दिल्ली संपादकीय कार्यालय में उनका कभी-कभार आना-जाना लगा रहता था। संपादक विनोद मिश्र से मिलकर आते तो सीधे मेरे पास चले आते और अपने बुन्देलखंडी अंदाज में पूछते- 'कओ रमेश, कैसे हो? नौने (अच्छे) हो? कविताएं लिख रए हो के नईं। लिखत रओ और खूब नाम करो। हमें तो जो करने हतो, सो खूब करो, अब तुम लोगन को ज़मानो है, अच्छो पढ़ो, अच्छो लिखो, जस कमाओ।'

अलग गोत्र के होते हुए भी सजातीय रिश्ते में पद्मनाभ जी हमारे चाचा, ताऊओं में से थे और हम उन्हें आदर से कक्का कहा करते थे। मेरा जब भी भोपाल जाना होता था तो उनसे मिलना अवश्य होता क्योंकि उनसे एक और रिश्ता जुड़ा हुआ था। मेरी छोटी इकलौती बहन सौ. वीणा के वे चचेरे श्वसुर भी लगते थे। हमारी बातचीत हिंदुस्तान टाइम्स के माहौल तथा पत्रकारिता जगत की सच्ची-झूठी खबरों तक ही सीमित रहती थी और उनकी बुन्देली भाषा में मुझे ज़रूरत से ज्यादा रस मिलता था। अब वे दिवंगत हो चुके हैं और उनकी स्मृति ही शेष है।

ये साहित्यिक स्मृतियां उन दिनों की है जब मैं अपने सात सदस्यीय परिवार के साथ अजमेरी गेट के कुंडेवालान चौक में ८२२ नं. मकान में रहता था। साहित्यिक प्रसंगों से हटकर अब ज़रा आत्मिक प्रसंगों की भी चर्चा कर लूं तो कुछ बुरा नहीं। कुन्डेवालान के मकान मालिक संतभूषण लाल, टेलीकाम इन्जीनियर थे। मकान तीन मंजिला था और उसकी छत पर हमारे पास एक ही कमरा था १० बाई १० फ़ीट का। उसी में छोटी-सी जगह रसोई की थी। कमरे से सटा जीना और जीने से सटा एक छोटा-सा तिकोना स्नानघर। इस एक कमरे में माता-पिता, हम पांच भाई और एक दो रिश्तेदार, जो यदा-कदा आया ही करते थे, हम लोग थ्री-टायर बेडरूम बनाकर सोते थे। कमरे के आगे लोहे का जाल था और उसके आगे दूसरे किरायेदार का थोड़ा और बड़ा कमरा और एक बड़ी रसोई-स्नानघर। दूसरे किरायेदार का नाम राजकुमार गुप्ता था। मेरी शादी हुई तो एक कमरे में माता-पिता भाईयों के सम्मिलित परिवार में किस तरह से गुज़ारा हो यह सवाल खड़ा हो गया। दिन तो गुज़र जाता पर रात... इस विषम स्थिति से बचने के लिये वैकल्पिक व्यवस्था पहले से करनी थी लेकिन कुछ कारणोंवश नहीं हो पाई। यह कमरा भी हमें हमारी नानी की वजह से मिला था जो कई वर्षों तक यहां रहने के बाद सीलमपुर में अपने नवनिर्मित मकान में चली गई थी। हमारी आसन्न कठिनाई भांपकर सामने के किरायेदार राजकुमार गुप्ता और उनकी पत्नी, जिन्हें हम सब भाभीजी कहते थे, ने सोने के लिये अपनी रसोई हम नवदंपति के हवाले कर दी। तीन-चार दिनों तक मेरा और कमलेश का गुजारा वहां 'पिया का घर' फ़िल्म की तरह हुआ। फ़िर मेरे हिंदुस्तान टाइम्स के एक मित्र भरत अरोड़ा ने हमें पहाड़गंज की चांदीवाली गली में एक कमरा रसोई के साथ किराए पर दिलवा दिया। मज़बूरी थी, वहां जाते हुए हमें यह कलंक भी सिर पर ढोना पड़ा कि 'देखो, शादी होते ही बड़ा लड़का मां-बाप तथा छोटे भाईयों से अलग हो कर रहने लगा।' लेकिन

> रात के बारह-सवा बारह बज रहे थे और हम पैदल रीगल से पहाड़गंज लौट रहे थे। उसी दिन पहाड़गंज के आसपास रेडलाईट एरिया में पुलिस की रेड पड़ी थी इसलिये मेरे साथ दो महिलाओं को देखकर गश्ती पुलिस ने पूछताछ के लिये रोक लिया।

इसके पीछे जो लज्जा, पीड़ा और विवशता थी, उसने हमारा पीछा नहीं छोड़ा और वह लगभग एक वर्ष तक हम दोनों को दिन में कुंडेवालान और रात में पहाड़गंज के बीच भटकाती रही।

चांदीवाली गली वाला वह मकान, मुझे बताया गया कि दिल्ली के पूर्व मुख्यमंत्री श्री मदनलाल खुराना के भाई(?) श्री बरकतराम खुराना का था। बरकतराम की पहाड़गंज बाज़ार में जूतों की दुकान थी। लेकिन इस मकान में प्रवेश के दिन ही हमारा सामना एक विचित्र हिंसात्मक परिस्थिति से हो गया। शाम ढलने को ही थी और अन्धेरा पहला कदम रख रहा था तभी मकान के चौबारे में लिमका-कोकाकोला की टूटी बोतलें आ-आ कर गिरने लगीं। गली के बाहर काफ़ी शोरगुल मचा हुआ था। बाद में पता चला कि वहां गली के बाहर ब्राइट होटल के मालिक के साथ किसी का झगड़ा हो गया था और लड़ाई हाथ-पैर से आगे बढ़कर शीतल पेय की बोतलों तक आ पहुंची थी। इस मकान में रहने की एक शर्त यह थी कि हर किरायेदार को एक सप्ताह रोटेशन से नीचे का बेड़ा (चौक) धोना पड़ेगा। नीचे तीन किराएदार थे इसलिये तीन सप्ताह नीचे की सफ़ाई-धुलाई हम सबके जिम्मे थी और बाकी के दिन ऊपर वालों की।

नीचे के कमरों में सीलन काफ़ी थी जिसके कारण वहां काक्रोचों की भरमार रहा करती थी। बहरहाल, हमने वहां एक साल काटा और फ़िर बड़े ही नाटकीय ढंग से पूर्वी दिल्ली की कॉलोनी गणेश नगर-२ शकरपुर आ गए। पहाड़गंज वाला कमरा छोड़ते समय हम वहां मारे हुए काक्रोचों का एक बड़ा-सा पेकैट भेंट स्वरूप छोड़ आए थे।

पहाड़गंज में हमारा एक साल (१९७६-७७) का समय कुल मिलाकर सुख-शांति में बीता। गली में ज्यादातर पंजाबी परिवार थे और शाम को वहां साझा चूल्हा जलता था जिसमें कभी हम भी तंदूरी रोटियां सिकवाकर ले आते थे। चूल्हा एक सुन्दर-सी स्थूलकाया वाली पंजाबी औरत जलाती थी जो सरल स्वभाव की थी। उसका बास्तविक नाम तो हम नहीं जानते थे पर मैंने और कमलेश ने उसका नाम अपनी और से क्रिस्टीना रख लिया था जो हमें अच्छा लगता था। सप्ताह में एक दो शामें हमारी कनाट्प्लेस के सेन्ट्रल पार्क में गुज़रती थीं। तब न तो आज के ज़माने जैसा आतंकवाद था और न ही देर रात में आने-जाने का डर। पर एक बार अवश्य हम छोटी-सी मुसीबत में फ़ंस गये थे। हुआ यूं कि मेरी बड़ी साली जोधपुर से दिल्ली आई हुई थीं। रीगल थियेटर में नई मूवी चल रही थीं 'अर्जुन पंडित'। कमलेश और उन्हें साथ लेकर रात नौ बजे का शो देखने गए। लौटते हुए बारह-सवा बारह बज रहे थे और हम पैदल रीगल से पहाड़गंज लौट रहे थे। उसी दिन पहाड़गंज के आसपास रेडलाईट एरिया में पुलिस की रेड पड़ी थी इसलिये मेरे साथ दो महिलाओं को देखकर गश्ती पुलिस ने पूछताछ के लिये रोक लिया। मैंने उन्हें बताया 'मैं हिन्दुस्तान टाइम्स में कार्यरत हूं। मेरे साथ मेरी पत्नी और बड़ी साली हैं और हम रीगल से रात का अंतिम शो देखकर लौट रहे हैं।' इस सबके बावजूद हम तीनों को अनावश्यक रूप से पंचकुइया रोड के नज़दीक आधा-पौन घंटा तक रुकना पड़ गया। 'अर्जुन पंडित' मूवी का आधा सुख इस व्यर्थ की पूछताछ ने तबाह कर दिया था।

थके मन से उस रात हम पहाड़गंज लौटे। और फ़िर कुछ दिनों बाद मेरा पूरा परिवार माता, पिता, भाईयों सहित गणेश नगर-२, की गली नं. २ में शिफ़्ट कर गया जो बड़े ही नाट्कीय ढंग से हमें किराये पर मेरे हिंदुस्तान टाइम्स के एक मित्र प्रकाश चन्द्र झा, जो अप्रेन्टिस के रूप में काम करता था और उसी मकान के एक कमरे में किराये पर रहता था, ने दिलवाया था। यह मकान काफ़ी बड़ा था उसमें एक बड़ा ड्राइंग रूम, एक बेड रूम और एक सुविधाजनक रसोई तथा स्नानघर थे। आगे लान था जिसमें गुलमोहर का एक पेड़ था। मकान का नाम था 'शांतिकुन्ज' जो मकान मालकिन के नाम पर था। किराया बसूली आदि का जिम्मा उनके बेटे अरुण कुमार अग्रवाल पर था। अरुण अग्रवाल इन्कम टैक्स ऑफ़िसर थे और प्रकाश चन्द्र झा ने हमें किरायेदार के रूप में यह कहकर रखवाया था कि हम प्रकाश के रिश्तेदार हैं और बिहार से आए हैं। प्रकाश की मेहरबानी से किरायेनामे की औपचारिकता तक हमसे पूरी नहीं करवाई गई थी। हां, एक दो बार अरुण जी हम सबसे मिलने अवश्य आए और पहली मुलाकात में ही उन्हें पता चल गया कि हम बिहार से नहीं मध्यप्रदेश के बुन्देलखंड से संबन्ध रखते हैं। प्रकाश के झूठ बोलने पर उन्हें गुस्सा तो बहुत आया पर हमारे परिवार का परिचय जानकर हमें कुछ नहीं कहा। हम वहां लगभग एक दो-साल तक रहे और फ़िर उसी कॉलोनी की गली नं. १ में हमने एक सौ गज का प्लाट ले लिया जिस पर कुछ दिनों बाद अपनी ज़रूरत लायक आधा कच्चा-आधा पक्का आशियाना बना लिया। लेकिन प्रकाश तब तक कमरा छोड़ कर बिहार वापस जा चुका था और बाद में एक दिन अपने पुलिसकर्मी पिता के साथ मिला तो पता चला कि वह पागल हो चुका था और दिल्ली के अस्पताल में मानसिक चिकित्सा हेतु लाया गया था। ज़ाहिर था कि ऐसी स्थिति में वह मुझे देखता रह गया था पर हमारी पहचान खो चुकी थी। उसके हाथ बंधे हुए थे और बंधन के दोनों सिरे उसके पिता के हाथों मे थे।■

क्रमशः

सुधा दीक्षित

मथुरा में जन्म। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। कविता एवं सृजनात्मक लेखन में विशेष रुचि। सम्प्रति - बंगलुरू में रहती हैं।

सम्पर्क : sudha_dixit@yahoo.co.in

हवा के साथ-साथ

तो साहब गुज़र गया साल २०१४ – gone with the wind. उड़ गया हवा के साथ। हवा भी ऐसी कि पता ही न चला कि किस रफ़्तार से दौड़ा वक़्त। आंधी की तरह आये मोदी, तूफ़ान की तरह छाये मोदी। सियासत में मानो ज़लज़ला आ गया – धरती फटी और सीता की मानिंद कांग्रेस उसमें समा गयी। आश्चर्य और अविश्वास आँख फाड़े तख़्त- ओ-ताज हक़दार (अब तक) भू-गर्भित हो गए।

सीता तो ख़ैर सच्ची थीं, फिर भी अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी। ठीक है दी; मगर क्या फ़ायदा हुआ? कुछ भी नहीं। सारी की सारी अग्नि पर एक धोबी ने पानी डाल दिया। नतीज़ा– बावजूद not guilty साबित होने के, सीता को सजा-ए-बनवास! चलो वह तो निरपराध थीं, और स्वाभिमानी भी, इसलिए दोबारा राजरानी बनने का अवसर और आकांक्षा छोड़कर धरती माँ की गोद में चली गयीं।

सियासत, लेकिन, कभी सीता नहीं होती। वह केवल शूर्पणखा होती है। तो साहब कट गए कांग्रेस और उसकी जैसी बाक़ी आसुरी पार्टियों के कान और नाक। सियासत में कभी शर्मो-हया भी नहीं होती। नाक और कान कट गए तो क्या हुआ; जुबान तो सलामत है। वह तो नहीं कटी। इसलिए नकटी, बहरी - यानि हारी हुई पार्टियाँ, काम करें या न करें, बयानबाज़ी ज़रूर करती रहीं पूरे साल।

बयानबाज़ी भी कैसी? जो बूमरैंग की तरह पलटकर अपने ही ऊपर आ जाये। भैय्ये, जो काम आप साठ सालों तक ना कर सके, उस काम के लिए सत्तारूढ़ पार्टी को साठ दिनों का समय भी देना गवारा न करना कोई अक़्लमन्दी की बात थोड़े ही है। यह तो अक़्ल की मंदी की बात है। वैसे अक़्ल की मंदी वाला हुनर आपमें किस हद तक और कितनी भरपूर तादात में है यह तो चुनाव परिणाम बता ही चुके हैं। अभी भी सुधरने के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। माफ़ी भी मांग लेते हैं, लेकिन गलतियाँ करना नहीं छोड़ते। बड़ी casually एक जुमला उछाल देते हैं 'हो जाती हैं गलतियाँ तो क्या फांसी पर चढ़ा दोगे?' हुज़ूरेवाला! आप हैं क्या - ना तीतर ना बटेर! भारी- भरकम गुनाहों को अगर आप मामूली ग़लती कहकर रफ़ा-दफ़ा करेंगे तो साहब, जनता आपको फांसी चढ़ाकर, धरती से ६ फीट ऊँचा नहीं उठाती बल्कि बड़ी शादमाँ सज़ा देती है – वह आपको नज़रों से गिरा देती है। धूल चटा देती है।

धूल चाट कर भी अगर सबक नहीं सीखा तो भैया अल्लाह ही मालिक है आपका। ईश्वर नहीं। यह क्या बात हुई? बात यह है कि अगर आप भगवा के साथ-साथ भगवान के भी ख़िलाफ़ हो जायेंगे तो खुदा ही काम आएगा ना! वही खुदा जो आपके vote bank का सरमायेदार है। आप, यानि धर्मनिरपेक्ष कांग्रेस, आतंकवादियों की नौका को जल सेना द्वारा उड़ा दिए जाने पर, सरकार से सवाल करती है कि ऐसा क्यों किया? सबूत मांगती है इस बात का कि नाव में जिहादी terrorist ही थे या smuggler? शर्म करो भूतपूर्व शासकों! Stooping to conquer आम बात होती है सियासत में लेकिन मुस्लिम वोट बटोरने के लिए इतना तो ना गिरो कि देश का हित ही भूल जाओ। उस डूबी नौका में जो भी लोग थे – थे तो ग़ैरकानूनी। अतिक्रमण तो कर ही रहे थे। और

तस्कर होना कौन सी बड़ी तमकनत की बात है। देश के अंदर लड़ो मगर कम से कम देश के बाहर तो एकजुट होकर रहो। यूँ भी हवा का रुख बहुत माक़ूल नहीं है। मांझी साहब ने बिहार से मुताह-शादी (short term marriage) की थी। पर अब उसे सात जन्मों के रिश्ते में तब्दील करने में लगे हैं। नाख़ुदा ख़ुदा बनना चाहता है (आपकी जानकारी को बता दें कि उर्दू जुबान में मल्लाह अर्थात मांझी को नाख़ुदा कहते हैं) यहाँ अगर बिहारवासियों ने अक़्ल से काम नहीं लिया तो वही हाल होगा जो लालू के ज़माने में हुआ था। और यदि ऐसा हो गया भाइयों और बहनों हम हर चीज़ से हाथ झाड़ कर, आदत के अनुसार एक शेर सुना देंगे। अर्ज़ किया है -

सबब यही तो है कश्ती के डूब जाने का
ख़ुदा को छोड़ के हम नाख़ुदा के साथ रहे

सुनन्दा पुष्कर थरूर की हत्या का मामला भी काफ़ी तूल पकड़ रहा है। इसमें अकेले शशि ही संदेह के घेरे में नहीं हैं। अफ़वाहों पर यक़ीन करें तो कांग्रेस भी मुसीबत में पड़ सकती है। पर्दे में रहने दो पर्दा ना उठाओ वाली policy बावजूद अनेक राज़ खुल चुके हैं। बेचारी सुनंदा सिर्फ़ एक धमकी 'राज़ की बात कह दूँ तो जाने महफ़िल में फिर क्या हो' देकर जान से हाथ धो बैठी। शायद अब वो राज़ खुल जाये। भाईजान –

चेहरा तक़दीर का ज़र्द होने लगा
अपनी तदबीर को सुर्ख़रू कीजिये

हम किसी का पक्ष नही ले रहे हैं। राजनीति में ना तो कोई दोस्त होता है ना ही दुश्मन। हम तो यूँ भी राजनीति से कोसों दूर हैं; तो हमारा कोई दिमाग़ थोड़े ही ख़राब हुआ है कि बेफ़ज़ूल दुश्मनी करते फिरें। पासा पलट गया तो? हम तो आपके friend, philosopher और guide होने के नाते विरोधी, (वह भी अल्पसंख्यक) पार्टियों से यह कहेंगे कि भैया तेल देखो, तेल की धार देखो। मौक़ा मिलते ही उछलने मत लगो। जहाँ तक मोदी के विभिन्न मामलों पर u-turn का मसला है तो हुज़ूर राजीव गांधी ने शाहबानो के मामले में क्या किया था? साहबान पहला पत्थर वो उठाये जिसने कभी कोई गुनाह ना किया हो। गागर में सागर भरता एक और शेर सलाह के रूप में पेश-ए-ख़िदमत है-

सबब तलाश करो अपने हार जाने का
किसी की जीत पे रोने से कुछ नहीं होगा

घटा के संग-संग : बरसों पहले जब हम छोटे बच्चे थे, बड़ी शरारत करते थे और अक्सर एक गाना गाते थे – *बरसो राम धड़ाके से; बुढ़िया मर गयी फ़ाक़े से।* यह गाना बरसात के आवाहन के लिए होता था ताकि फ़सल अच्छी हो। और बच्चों को तो बारिश में नहाने के लिए कोई भी गाना चलेगा; बस घनघोर घटा घिरने की देर है। दादुर, मोर, पपीहा और इन्द्रधनुष – और क्या चाहिए जीने के लिए?

मोदी की अप्रतिम सफलता ने बहुत से इन्द्रधनुष सियासत

"बरसो राम धड़ाके से; बुढ़िया मर गयी फ़ाक़े से। यह गाना बरसात के आवाहन के लिए होता था ताकि फ़सल अच्छी हो। और बच्चों को तो बारिश में नहाने के लिए कोई भी गाना चलेगा; बस घनघोर घटा घिरने की देर है। दादुर, मोर, पपीहा और इन्द्रधनुष – और क्या चाहिए जीने के लिए?"

के आसमान में फैला दिए। लोगों को लगा अच्छे दिन आ गए। दादुर, मोर, पपीहे राग-मल्हार गाने लगे हैं। खुशियों की बरसात होने वाली है। Rain dance होने लगा। मोदी जी ने जो सपने दिखाए थे, वो इस क़दर रंगीन थे कि लोगों की उम्मीदें कुछ ज़्यादा ही संगीन हो गयीं। मोह-भंग बहुत कष्टगायी होता है, यानि,

हम तो समझे थे कि बरसात में बरसेगी शराब
आई बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया

यहां आप 'शराब' को सांकेतिक (symbolic) रूप में लें। उसे अनाज भी कह सकते हैं या किसी और essential commodity का नाम भी दे सकते हैं। देखिये साहबान हम ज़रा इन्साफ़-पसन्द किस्म के बाशिंदे हैं। कुछ भी हो, हर बात के लिये सरकार पे इलज़ाम लगाना गलत बात है। बेचारी भाजपा! उसके तो सर मुंडाते ही ओले पड़ने लगे। जुम्मा-जुम्मा चार ही दिन तो हुये हैं देश की बाग़डोर संभाले। ये कहना कि इनमें से दो आरज़ू में कट गये और बाक़ी दो इंतज़ार में कटे जा रहे हैं; लेकिन मंहगाई है कि कम होने का नाम ही नहीं ले रही है, अंग्रेजी के एक उपवाक्य (phrase) को साकार करता है 'We spoke too soon'. बेचारा बादल कहाँ-कहाँ बरसेगा? उसे दम तो लेने दो। ताल-तलैय्यों से पानी तो जमा करने दो। हाँ, एक बात हम सरकार से भी ज़रूर कहेंगे कि हुज़ूर कुछ तो बरसो – कहीं बुढ़िया ना मर जाये फ़ाक़े से।

बड़ा पाप लगेगा अगर वो बेचारी चल बसी इस दुनिया से वह भी ख़ाली पेट। पाप से याद आया, मोदी ताऊ जी यह आपने क्या किया? संघ परिवार के दवाब में, हिन्दुत्व के नाम पर ये तथाकथित ऋषि, मुनि, जोगी, योगी, सती, साध्वी इत्यादि अपनी सरकार में भर लिये। भला साधु-संतों का क्या काम शासन में? इन महानुभावों को बानप्रस्थ आश्रम में जंगल की ओर अग्रसर कर देना चाहिए था। लेकिन ये कोई सीता थोड़े ही हैं कि बनवास को निकल पड़ेंगे। ख़ैर राजधानी में रह कर भी महज़ संघ परिवार से जुड़े रहते तो भी गनीमत होती; परन्तु यहां तो बिल्ली के भागों छींका ही टूट गया। देखो क्या आपा-धापी मची हुई है मलाई चाटने की। ज़्यादा से ज़्यादा lime light hog करने की कोशिश में बयान दिए जा रहे हैं, जो कि वास्तव में सरकार की छवि को बिगाड़ ही रहे हैं। 'मोहे रंग दे बसंती' की तर्ज़ पर 'सबको रंग दे सिंदूरी' कुछ ज़्यादा नहीं हो गया? मारे उल्लास के 'होली है' जैसा

उत्साह दिखाती भगवा-brigade पहले love-jihad और अब ज़बरदस्ती धर्म-परिवर्तन पर उतारू हो गयी। आहिस्ता भाई आहिस्ता! नयी सत्ता, नये अधिकार वो भी अनपेक्षित। बहुत प्रतीक्षा के बाद परोसा गया एकदम गर्मागर्म भोज्य-पदार्थ ज़रा फूँक मार कर, कहीं जिह्वा ना जल जाये। बहुत कुछ करने को है, आप लोग हो कि जो है उसे ही बिगाड़ने पर तुले हो। मतदाता सोच रहे हैं कि कहीं उनसे गलती तो नहीं हो गयी। *ज़मीं संभलती नहीं आसमान मांगते हैं/ये कैसे लोग हैं सारा जहान मांगते हैं।*

गांधी ने याने संजय गांधी ने और जो किया सो किया मगर एक काम बहुत अच्छा किया था – वह था परिवार नियोजन। उनके जाने के बाद बेवजह के back-lash में वह scheme backfire कर गयी। अफ़सोस! और अब हमें कुछ ज़्यादा ही अफ़सोस हो रहा है। भाजपा की सिंदूरी सेना सब किये कराये पर शुद्धिकरण का गंगाजल फेर रही है। मोहन भागवत हों या साक्षी महाराज संघ के दिग्गज, हिन्दुओं को चार-चार बच्चे पैदा करने की सलाह दे रहे है। भई वाह! घर में नही दानें, अम्मा चली भुनाने। अरे बुढ़िया को तो फ़ाक़े से मरने से बचा लो फिर उसके बाद चिल्लर-पार्टी जमा करके दावत उड़ने की बात करना। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। लोग भूखे मर रहे हैं और भरे पेट वालों की जमात जनसंख्या बढ़ाने की बात कर रही है। अँधा बाँटे रेवड़ी। दो चार दिन इन well-fed महंतों का दाना-पानी बंद कर दो, अक़्ल ठिकाने लग जाएगी ।

पहली बार ruling party का हिस्सा बने हो महाराज, बड़ा सोचो, दूर की सोचो। Myopic eyesight (short-sightedness) के साथ सदैव कूप-मंडूक ही बने रहोगे।

दरअसल राष्ट्रीय सेवक संघ कभी भी लोकप्रिय नहीं था। अब वह मोदी की लोकप्रियता रूपी गाय की पूँछ पकड़ कर शासन की वैतरणी पार करने की कोशिश कर रहे हैं। पूँछ पकड़ने तक तो ठीक है मोदी ताऊ जी, मगर सवार मत होने देना। एक बात और आपकी प्रतिष्ठा की नाव में जो हिंदुत्व का भरी-भरकम गट्ठर लादा जा रहा है वह कहीं आपकी नौका के साथ आपको भी न डुबो दे –हम तो डूबे हैं सनम, तुमको भी ले डूबेंगे। अतः ज़रा हट के ज़रा बच के ये है राजतंत्र मेरी जान। तो हुज़ूर ज़िल्ले इलाही अपना ख़याल रखिये। मौसम विभाग के सम्पर्क में रहिये। हवा का रुख और घटा का सुख मद्दे-नज़र रखिये। देश और देशवासियों का सोचिये - broad spectrum - रखिये। साधु-साध्वियों से थोड़ी दूरी बनाये रखिये। संघ को नज़र-अंदाज़ कीजिये। ये मत भूलिए कि डूबते वक़्त सूरज का रंग भी सिंदूरी होता है। तेज़ रौशनी भी अँधा बना देती है। बहुत तेज़ धूप में पाँव जल जाते हैं, इसलिए बादलों संग संग – चल छैंया छैंया, चल छैंया छैंया....।

> आहिस्ता भाई आहिस्ता! नयी सत्ता, नये अधिकार वो भी अनपेक्षित। बहुत प्रतीक्षा के बाद परोसा गया एकदम गर्मागर्म भोज्य-पदार्थ ज़रा फूँक मार कर, कहीं जिह्वा ना जल जाये। बहुत कुछ करने को है, आप लोग हो कि जो है उसे ही बिगाड़ने पर तुले हो।

जलता हुआ दिया हूँ : जी हाँ, बन के तो दीपक ही आये थे दुनिया में उजाला करने। पैगंबर साहब एक बड़ा किरदार और रौशन दिमाग़ रखते थे। उन्होंने एक महान मज़हब बनाया, महान किताब लिखी और कुछ क़ायदे-क़ानून बनाये ताकि लोग भूल न जाएँ और भूल न करें। लेकिन वही होता है जो मंज़ूर- ए-खुदा होता है। इस्लाम में वही हुआ जो कुटुंब के सरमायेदार के गुज़र जाने के बाद होता है। वारिसों में जायदाद को लेकर फूट पड़ जाती है। मज़हब की विरासत को लेकर इस्लाम के मुरीद भी शिया और सुन्नी बन गए। सुना है और भी sub - sects हैं। देख भाई बहुत ज़हीन-तरीन तो हम भी नहीं हैं। इससे ज़्यादा जानकारी हमें है नहीं; लेकिन उसकी ज़रूरत भी नहीं है। इबादत करनी है तो करनी है। उसके लिए एक अदद खुदा और उसकी इबादत काफ़ी है। आम से मतलब है, पेड़ क्यों गिनने ?

बस यहीं थोड़ी-सी गड़बड़ हो गयी। लोग मानते ही नहीं बिना पेड़ गिने। हो गया बंटाधार। कुछ गलत क़िस्म के लोगों ने मज़हब को सियासत बना डाला।

किसी की रूह जैसे आबो-दाना ढूंढ लेती है
सियासत खूं बहाने का बहाना ढूंढ लेती है

बिरादर! सियासत तो समझ में आती है, मगर खून बहाने वाली बात हमारी समझ में नहीं आती। मोहम्मद साहब तो अमन का फरिश्ता थे। अमन और चैन ही उनका पैग़ाम था। तुम्हें समझने में ग़फ़लत कैसे हो गयी ? काफिरों को बुरा कहते हो। क्यों ? अपने काम से काम रखो बिरादर। अपने खुदा का सजदा करो, काफिरों को अपने भगवान के आगे नत-शीश होने दो। मसला क्या है, कुछ भी नहीं। हम सभी खुदा के बन्दे हैं, मानने या ना मानने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। फिर भी आपने बुरा-भला कहा, चलो हो गया। ख़ाक डालो उस पर। लगता है बात समझ में नहीं आई। तुम तो मज़हबी न रह कर जुनूनी बन गए और इस ग़फ़लत में ये क्या किया उसे दहशत बना दिया।

भैया, हम हिन्दू, यहूदी, अँगरेज़ और पारसी तो तुम्हारे हिसाब से गैर हैं मगर हुज़ूर सीरिया में सुन्नी और शिया तो एक ही बाप के बेटे हैं यानि उसी खुदा के बन्दे हैं जो मुसलमान है। फिर वहाँ मार-काट क्यों ? अरे यार भाई-भाई हो, एक को आम पसंद है, दूसरे को केला। हैं तो फल दोनों। अमन की आशा, शांति का सन्देश ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करके तुम लोग पेशावर में छोटे-छोटे बच्चों को गोलियों से छलनी कर देते हो। कोई logic तो हो। सारी दुनिया ने लानत-मलामत करी, लेकिन तुम लोगों की दाढ़ी में जूं नही रेंगी। फ़्रांस में जाकर फिर कर दिया क़त्ल-ए-आम। सिर्फ इसलिए कि

Charlie Hebdo ने मोहम्मद साहब के कार्टून बना दिए थे? Where is your sense of humour man? शायद खुद पैगंबर भी उन हास्य-चित्रों को देखते तो हँस देते। चलो नहीं भी हँसते लेकिन कम से कम क़त्ल तो हरगिज़ नहीं करते। आप जैसे आतंकवादियों की वजह से बेचारे महान इस्लाम की वो हालत हो गयी कि 'जलता हुआ दिया तो हूँ, मगर रौशनी नहीं, बस धुआँ ही धुआँ है।'

एक वाकया सुनाएँ? हमारी एक मुस्लिम मित्र ने हमसे कहा हिंदी तो खैर ठीक है मगर संस्कृत बड़ी वाहियात ज़ुबान है। हमारी भँवें चढ़ीं। excuse me? वह हंस कर बोली संस्कृत में पैर को 'पाद' कहते हैं। हमने कहा फिर भी उर्दू-फ़ारसी से अच्छी है। इस बार उसने आँखें तरेर कर हमें देखा 'क्या मतलब?' हमने कहा उर्दू फ़ारसी में हाथ को 'दस्त' कहते हैं। हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा और फटा बम। अरे तुम्हारा atom bomb या suicide bomb नहीं बल्कि हँसी का बम गोला। आज तक हम जिगरी दोस्त हैं। दोस्तों हंस कर बर्दाश्त करना सीखो। यारी करना, यारी निभाना सीखो। मार-काट में कुछ नहीं रखा। इस्लाम की रौशनी फैलाओ; ज़ुल्मात और धुंए से कुछ नहीं हासिल।

हम कुछ नहीं कहते : दुनिया वालों को कोई मसला नहीं है कि हम चुप रहते हैं। अपने ही घरवालों को शिकायत होने लगी है कि हम कुछ नहीं कहते। क्या करें, अपनी तो ये आदत है कि हम कुछ नहीं कहते। बड़ी अच्छी आदत है भैया - silence is golden. लेकिन आजकल गोली-बारूद के कारण कुछ शोर सा बरपा होने लगा है। यह शोर हम नहीं मचा रहे हैं। शोर वो मचा रहे हैं जिनकी मानसिकता कुछ ऐसी है कि 'उसकी कमीज़ मेरी कमीज़ से ज़्यादा सफेद क्यों' या 'यह लोग धर्म-परिवर्तन करते हैं तो हम क्यों नहीं?' अथवा 'वे (मुस्लिम) मज़हब के नाम पर मार-काट (जिहाद) हैं तो हम भी क्यों ना करें?'

शांत गदाधारी भीम शांत! भाई दूसरों का अँधा अनुसरण करने वाले फेल हो जाते हैं क्योंकि भगवान ने सबको परीक्षा पत्र अलग-अलग दिए हैं। स्पष्ट है कि उत्तर भी अलग-अलग ही होंगे। नकल करना कोई अक़्ल की बात नहीं होती। हम क्यों उनके स्तर पर उतरें? वैदिक काल से हम भारतवासियों ने दूसरों के धर्म और संस्कृतियों की ओर सहनशीलता का रुख़ अपनाया है। हम जानते थे कि हम बेहतर हैं, हमारे पास ज्ञान है, इसीलिए अज्ञानियों को, खुद से कमतर को माफ़ करते रहे। क्षमा करना हमारे खून में है और खून बहाना गैर मज़हबियों के खून में है। बस यही फ़र्क़ है। वैसे भी हमारा मज़हब तर्क पर, logic पर आधारित है। हम संयम और अक़्ल से काम लेते हैं, अन्धविश्वास से नहीं। हमारा भगवान हमारा जनक ही नहीं हमारा दोस्त भी है जिसके साथ दुःख-सुख तो बांटते ही हैं, साथ ही परिहास भी करते हैं। नारद मुनि को विदूषक बना देना, कृष्ण भगवान को लीलाधर (prankster) में तब्दील कर देना एक हिन्दू के ही बस की बात है।

> *साधु-साध्वियों से थोड़ी दूरी बनाये रखिये। संघ को नज़र-अंदाज़ कीजिये। ये मत भूलिए कि डूबते वक़्त सूरज का रंग भी सिंदूरी होता है। तेज़ रौशनी भी अँधा बना देती है। बहुत तेज़ धूप में पाँव जल जाते हैं, इसलिए बादलों संग संग – चल छैंया छैंया, चल छैंया छैंया....।*

आजकल पीके फिल्म को लेकर बड़ा हंगामा मच रहा है। हम चुप हैं। एक तो इसलिए कि हमने फिल्म देखी ही नहीं। बोलें भी तो क्या बोलें? दूसरे हमने, बहुत पहले 'जाने भी दो यारों' और कुछ समय पहले omg देखी थी। उनमें हमारे भगवान तथा अन्य देवताओं को भिन्न-भिन्न एवं विचित्र परिस्तिथियों में हास्यास्पद ढंग से दर्शाया गया है। 'घरोंदा' फिल्म में रामलीला को मज़ेदार तरीके से प्रस्तुत किया गया है। हँसते-हँसते हमारे पेट में बल पड़ गए। सुना है कि पीके भी बड़ा हंसाती है। दोस्त लोग कहते हैं तो हम भी मान लेते हैं, अतः चुप हैं। परन्तु, activist क़िस्म के लोग हमें लानत-मलामत भेज रहे हैं कि वैसे नाक पे मक्खी नहीं बैठने देती अब क्यों सहनशीलता दिखा रही हो? क्यों कोई भी – वह भी आमिर खान यानि एक मुसलमान – हमारे देवताओं का मज़ाक उड़ा देता है और हम हँस के चुप रह जाते हैं। साहबान! हिंदुत्व के कद्रदान! हिन्दू सभ्यता पर मेहरबान! हम इसलिए सहनशील हैं क्योंकि यही हमारी ताक़त है। हमारा ईश्वर, हमारे देवता कमज़ोर नहीं हैं। कुछ भी हो हिन्दू, हिंदी और हिंदुत्व का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता – *'हम को मिटा सके ये ज़माने में दम नहीं/हमसे ज़माना है, ज़माने से हम नहीं'*। तालियाँ!!

मज़ाक दरकिनार, पेशावर में, पेरिस में जो क़त्ल-ए-आम हुआ वह नाक़ाबिले बर्दाश्त है, लेकिन हुआ भी बर्दाश्त का माद्दा न होने की वजह से ही। अगर आपका यक़ीन, आपका विश्वास, कोई मज़ाक या नुक्ताचीनी को हँसकर झेल नहीं सकता तो उसकी क़ूवत पर शक होता है। आप हमारी क़ूवत-ए-बर्दाश्त पर सवाल उठा रहे हैं? इस्लाम के एक ज़हीन बन्दे ने भी अपनी निहायत असहनीय क़ौम के मौलवी से सवाल किया -

ज़ाहिद शराब पीने से काफिर हुआ मैं क्यों
क्या एक चुल्लू पानी में ईमान बह गया?

जी हाँ भगवान जैसी great personality छोटी-छोटी चीज़ों से प्रभावित नहीं होती। आखिर खुदा का मामला है। वो खुदा जो अपने बन्दों को तौफ़ीक़ देता है, अपनी हिफ़ाज़त खुद नहीं कर सकता क्या? दोस्तों खुदा को खुदाई करने दीजिये और खुद को धरती पर ले आईये। आसमान की ओर मुँह करके चलने से ठोकर खाने का ख़तरा हो सकता है। शीशा देखते रहना चाहिए वरना चेहरा बिगड़ जाता है।

हद चाहिए सज़ा में अक़ूबत के वास्ते
आखिर गुनहगार हूँ, काफ़िर नहीं हूँ मैं। ■

गर्भनाल
100 वाँ अंक

गर्भनाल के सौवें अंक में
आपके विचार आमंत्रित हैं।

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

garbhanal@ymail.com

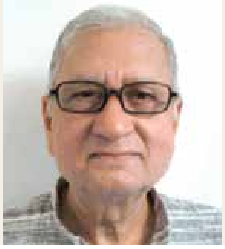

रमेश जोशी

१८ अगस्त १९४२ को चिड़ावा, राजस्थान में जन्म। राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. और रीजनल कालेज ऑफ एज्यूकेशन भोपाल से बी.एड., पोरबंदर से पोर्ट ब्लेयर तक घुमक्कड़ी, प्राथमिक शिक्षण से प्राध्यापकी करते हुए केन्द्रीय विद्यालय जयपुर से सेवानिवृत्त। संप्रति : अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक। मूलतः व्यंग्यकार, गद्य-पद्य की ६ पुस्तकें प्रकाशित। ब्लॉग - jhoothasach.blogspot.com

संपर्क : 4758, darby court stow, OH-44224 USA Email : joshikavirai@gmail.com Tel. : 330-688-4927

जन्नत की हकीकत

प्लांट अ पिज्जा

लगभग प्रति वर्ष पाँच-छः महिने के लिए अमरीका के ओहियो राज्य के स्टो कस्बे में बेटे के पास आ जाता हूँ। यह कोई ३५ हजार की जनसंख्या का एक क़स्बा है। इसी के पास एक और क़स्बा है- हडसन जिसकी जनसंख्या भी कोई ३५ हजार ही है। चूँकि सभी स्थानों पर रहन-सहन की सभी सुविधाएँ एक जैसी ही हैं तथा घर और मोहल्ले इतनी दूर-दूर हैं कि पता ही नहीं चलता कि कहाँ एक कस्बा बदल कर दूसरा शुरू हो गया। सुविधाओं और साधनों के चलते एक कमरे में बैठकर अखबार छापना संभव हो गया है इसलिए जहाँ भारत में ही मँझोले कस्बों तक से बड़े-बड़े अखबारों के स्थानीय संस्करण और कई छोटे-छोटे अखबार निकलने लग गए हैं तो यहाँ तो विज्ञापन की अधिकता के कारण अखबारों के लिए और भी उपजाऊ परिस्थितियाँ हैं।

सो विज्ञापन-डिलीवरी के लिए चार से चालीस पृष्ठ के कई अखबार छपते हैं जिनका निःशुल्क वितरण होता है। हालाँकि इनकी छपाई और पृष्ठ संख्या किसी भी अच्छे-भले अखबार के समान ही होते हैं लेकिन चूँकि आधार स्थानीय है इसलिए इनके सभी समाचार छोटे-छोटे और अपने स्थानीय चरित्र के अनुरूप ही होते हैं। इससे जहाँ स्थानीय व्यापार-व्यवसाय और आवश्यकताओं की पूर्ति होती है वहीं पत्रकारिता-प्रतिभा को भी प्रोत्साहन मिलता है और यहाँ की स्थानीयता को समझने में भी सहायता मिलती है जो अन्ततः प्रांतीय और राष्ट्रीय दशा-दिशा की ओर भी इंगित कर देती है।

> यहाँ घरों के आगे निरर्थक घास लगाई जाती है और उसकी सिंचाई, खाद, पानी, कटाई आदि में पैसे और श्रम खर्च किए जाते हैं जबकि यहाँ शाकाहार मांसाहार से महँगा है इसलिए गरीब प्रायः मोटापे की व्याधि से ग्रसित हैं।

मेरे सामने एक स्थानीय अखबार 'स्टो-सेन्ट्री' का रविवार का अंक पड़ा है। एक सूचनात्मक समाचार छपा है-

'हडसन चिल्ड्रेन'स लाइब्रेरी' किंडरगार्टन से पाँचवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों को अपने अभिभावकों के साथ लाइब्रेरी के पिछवाड़े में दोपहर २ बजे 'प्लांट अ पिज्जा' पार्टी के लिए आमंत्रित करती है। उस दिन दोपहर बाद लाइब्रेरी बंद रहेगी। यदि इस दिन इस समय वर्षा हुई तो यह कार्यक्रम अगले हफ्ते २ बजे होगा। सभी अपने बैठने के साधन और रोपने के लिए गेंदे के पौधे साथ लाएँ।

फास्ट फूड के धंधे का यह हाल है कि पिज़्ज़ा बनाने वाली बड़ी और छोटी कम्पनियाँ स्थानीय स्कूलों को कुछ पैसा देकर स्कूलों के मुख्य द्वार तक पर अपने बैनर लगवाती हैं। मामला स्कूल के लिए फंड जुटाने का है। बच्चों की भावी मानसिकता पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभाव की किसे फ़िक्र है?

जब भी लाइब्रेरी खुली रहे तब बच्चे पौधों में पानी देने और गुड़ाई-निराई करने के लिए आ सकते हैं। मध्याह्न ११ बजे हार्वेस्ट और पिज्जा पार्टी होगी।'

सोचता हूँ, अच्छी बात है कि आज कंप्यूटर, मोबाइल के आभासी समय में गेंदे के पौधे लगाने के लिए ही सही, जीवन से जुड़ने के लिए कुछ तो प्रेरित किया जा रहा है।

आजकल समाचारों को मनोरंजक, सनसनीखेज या अनोखे ढंग से प्रस्तुत करने के चक्कर में कभी-कभी अनर्थ और तमाशा बन जाता है जिसे हम अपने भारत के अखबारों और टी.वी. के समाचारों को प्रस्तुत करने के तरीके में देख सकते हैं। हो सकता है इसी नवीनता के मोह में यह समाचार देने वाले ने भाषा को अनुप्रास युक्त बनाने के लिए 'प्लांट अ पिज्जा' शीर्षक दे दिया हो।

यहाँ घरों के आगे निरर्थक घास लगाई जाती है और उसकी सिंचाई, खाद, पानी, कटाई आदि में पैसे और श्रम खर्च किए जाते हैं जबकि यहाँ शाकाहार मांसाहार से महँगा है इसलिए गरीब प्रायः मोटापे की व्याधि से ग्रसित हैं। तो सोचता हूँ क्या गेंदे की जगह बच्चों से किसी फल के पौधे नहीं लगवाए जा सकते थे। उस स्थिति में भी अनुप्रास के सौंदर्य को कायम रखा जा सकता था जैसे- प्लांट अ पम्पकिन, प्लांट अ पीनट, प्लांट अ प्लुम आदि।

आजकल तो बच्चों में इतना बचपन नहीं रहा। वे ज्ञानी हो गए हैं। पर पहले बच्चे पैसा उगाते थे और समय आने पर उन्हें पता चल जाता था कि पैसे पेड़ों पर नहीं लगते। किन्तु क्या इसे इस तरह से नहीं देखा जा सकता कि सारे पैसे और समृद्धि ज़मीन में पसीना बोकर ही पाई जाती है?

हो सकता है पौधे के नाम पर पिज्जा बोने वाली यह विज्ञापनीय सभ्यता किसी ब्रांडेड पिज्जा के लिए बच्चों के दिमाग की कोमल ज़मीन खोद रही हो?

वैसे जहाँ तक कृषि-कार्यों में रुचि की बात है तो यह एक स्वाभाविक शौक और मानव का सबसे पुराना आविष्कार है जिसने इस दुनिया में सभ्यता और एक स्थिर समाज की नींव रखी। सबसे बड़ी बात यह है कि इसके माध्यम से बच्चा अपने परिश्रम और जीवन को फलते, विकसित होते देखता है। साथ ही उसे यह भी शिक्षा मिलती है कि परिश्रम के फल के लिए प्रतीक्षा करना भी ज़रूरी है। प्रतीक्षा करना भी एक योग है, तपस्या है, शिक्षा है, अनुशासन है। जो प्रतीक्षा नहीं कर सकते वे हर इच्छा की पूर्ति के लिए शॉर्ट कट ढूँढ़ते हैं और शॉर्ट कट की मानसिकता कुंठा और अंततः अपराध में परिणत हो सकती है। तभी हमारे यहाँ कहा गया है -

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय
माली सींचे सौ घड़ा रुत आए फल होय।

इसीलिए वहाँ कई स्थानों पर इस हॉबी की व्यवस्था भी देखने को मिलती है। टाउनशिप के पास जिन लोगों की कुछ ज़मीनें हैं वे उसमें पाँच गुणा पाँच गज की क्यारियाँ बना देते हैं जिन्हें पाँच-दस डॉलर के किराये पर लोग फटाफट ले लेते हैं। अपने बच्चों को सप्ताहांत में उनमें बीज बोने, खाद डालने, निराई-गुड़ाई करने के लिए ले जाते हैं। यह एक अच्छी गतिविधि है। अब भी बहुत से लोग व्यस्त इलाकों से थोड़ा दूर बड़ी ज़मीन लेते हैं और उसमें फल-सब्जियां उगाते हैं और सर्दी के मौसम में उपयोग के लिए फ्रीज़ करके रख लेते हैं। अच्छा होता इस शौक को बड़े पैमाने पर विकसित किया जाता लेकिन बाज़ार के विज्ञापनी तूफ़ान में इसे पैर ज़माने का अवसर नहीं मिल पा रहा है।

और फास्ट फूड के धंधे का यह हाल है कि पिज़्ज़ा बनाने वाली बड़ी और छोटी कम्पनियाँ स्थानीय स्कूलों को कुछ पैसा देकर स्कूलों के मुख्य द्वार तक पर अपने बैनर लगवाती हैं। मामला स्कूल के लिए फंड जुटाने का है। बच्चों की भावी मानसिकता पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभाव की किसे फ़िक्र है?

कुछ महँगे पिज़्ज़ा वाले आपके सामने ताज़ा पिज़्ज़ा भी बना कर देंगे लेकिन अधिकांश सस्ते पिज़्ज़ा कई महिनों पहले के बने हुए भी हो सकते हैं जिन्हें समय-समय पर दुकानों में पहुँचाया जाता रहता है और वहाँ उन्हें गर्म करके, ऊपर चीज़, टमाटर, पाइनेपल जैसी सामग्री डालकर बेचा जाता है। इसके अतिरिक्त कैसी और क्या चिकनाई काम में लाई जाती है इसका फार्मूला तो कोकाकोला के फार्मूले की तरह ईश्वर भी नहीं जानता होगा। अन्य फ़ास्ट फूड की तरह पिज़्ज़ा खाना भी उसी तरह का अखंड विश्वास है जैसे कि हम किसी भी स्थान पर लगे लेटर बॉक्स में भगवान भरोसे पत्र डाल देते हैं या हरिद्वार में दोने में मन्नत का दिया रखकर गंगा में छोड़ देते हैं।■

विजया सती

दिल्ली विश्वविद्यालय की बी.ए. ऑनर्स और एम.ए. हिन्दी परीक्षाओं में सर्वश्रेष्ठ छात्रा होने के नाते सरस्वती पुरस्कार, मैथिली शरण पुरस्कार और सावित्री सिन्हा स्मृति स्वर्ण पदक से पुरस्कृत। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा टीचर फ़ेलोशिप और कैरियर अवार्ड के लिए चयनित। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कॉलेज में एसोसिएट प्रोफ़ेसर के रूप में कार्यरत। एक सहयोगी काव्य-संकलन के अतिरिक्त दो शोध पुस्तकों का प्रकाशन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और आलेख निरंतर प्रकाशित। सम्प्रति - प्रोफ़ेसर हिन्दी विभाग, हान्कुक यूनिवर्सिटी ऑफ़ फॉरन स्टडीज़, सिओल दक्षिण कोरिया।

सम्पर्क : vijayasatijuly1@gmail.com

दक्षिण कोरिया की डायरी

पुरातन में आधुनिकता का अनुपम संगम

अप्रैल-मई के वसंत वैभव के बाद कोरिया में उमस भरी गर्मी जून अंत से जुलाई-अगस्त तक छाई रहती है। विश्वविद्यालय में जून में सत्रांत की परीक्षा के बाद दो महीने गर्मी की छुट्टियां हो जाती हैं। इस समय बहुत से छात्र अगले सत्र के लिए कुछ पैसा इकट्ठा करने की कोशिश करते हैं, कोई न कोई काम करके। भाषा जानते हैं तो अनुवाद कर देंगे, पर्यटकों के गाइड बन जाएंगे, रेस्तरां में खाना परोसेंगे और यदि बनाना जानते हैं तो कुछ बना भी देंगे! इस सबके बावजूद थोड़ा-सा समय अपने लिए भी जरूरी है। दोस्तों के साथ मिलकर घूमना, घर-परिवार में मिलना-जुलना ताकि सत्रारम्भ में ताजगी के साथ वापसी हो। यह जानकारी मुझे सितम्बर में सत्र के आरम्भ में अपने विद्यार्थियों से ही मिली। यह संवाद हमारे पाठ्यक्रम का ही एक हिस्सा बना। वार्तालाप और निबंध की कक्षा यहीं से शुरू हुई। सभी विद्यार्थियों ने अपने-अपने अनुभव बताए और इतनी सारी जानकारी इकट्ठा हो गई।

पतझड़ के रंग : सितम्बर अंत से अक्टूबर भर स्वच्छ नीला आसमान और फिर नवम्बर आरम्भ तक कोरियाई परिवेश रंग-बिरंगे पत्तों से भरे सुंदर दृश्य उपस्थित करता है। इस समय जन सामान्य को बाकायदा सूचित किया जाता है कि किस समय किस राष्ट्रीय उद्यान या पर्वत प्रदेश में पहुँच कर आप इस सौन्दर्य को देख सकते हैं। पर्यटकों और कोरियाई नागरिकों के झुण्ड के झुण्ड पर्वतों का रुख करते हैं इस अद्‌भुत दृश्य को देखने के लिए जब पेड़ों की हरियाली लालिमा और पीलेपन से आच्छादित होने लगती है। यह अन्ग्रेज़ी का फ़ॉल है। मेपल के कटावदार पत्ते अनूठी आभा से भर जाते हैं। महादेवी वर्मा ने लिखा था- 'विकसते मुरझाने को फूल!' और प्रसाद ने कहा था - 'उत्सव के पीछे का मलिन अवसाद।' दोनों ही सत्य साकार हो जाते हैं इन दिनों। पहले बहुरंगी आभा ने मन लुभाया और फिर पतझड़ चला आया! बाग़-बगीचों की देखभाल करने वाले समेटते रहते हैं दिनों-दिन झड़ते हुए पत्तों के ढेर।

लेकिन यही इस देश का वह मोहक मौसम है जब न सर्दी है न गर्मी। जैसे ठन्डे यूरोपीय स्थानों पर धूप चर्चा का विषय होती है, वैसे ही यहाँ इस बढ़िया मौसम का आनंद लेने की बात हर जान-पहचान वाला अनजाने ही कर बैठता है। सब जानते हैं कि इसके ठीक बाद भीषण सर्दी से कम से कम तीन महीने मोहलत नहीं मिलने वाली। यही वह समय है जब विभिन्न स्थानों पर तरह-तरह के समारोह आयोजित किए जाते हैं।

बुसान साहित्योत्सव में भागीदारी : कोरिया में प्रवास के दौरान धीरे-धीरे यह जाना कि यहाँ कई संस्थाएं भारत संबंधी अध्ययन से जुड़ी हैं। एक है 'टैगोर सोसायटी ऑफ़ कोरिया' जिसकी अध्यक्ष पद्मश्री किम यांग शिक हैं। संस्था की ओर से एक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है।

अक्टूबर में हमें कोरिया के प्रसिद्ध शहर बुसान जाने का अवसर मिला। बुसान कोरिया का दक्षिण पूर्वी तटीय इलाका है। यह कोरिया का दूसरा बड़ा शहर और व्यापारिक

थे- हिन्दू राष्ट्रवादियों की धर्मनिरपेक्षता की समझ और व्याख्या, मोदी सरकार में भारत की रणनीतिक साझेदारियां, वृहदारण्यक उपनिषद, भारतीय बौद्ध धर्म, हिन्दू चिंतन में देव-असुर युद्ध का मिथक तथा पाप-पुण्य की अवधारणा। मेरे आलेख का विषय था - 'भारत में रामकथा और रामराज्य की अवधारणा : अतीत और वर्तमान।' इस पर संवाद करने वाले सज्जन ने सहज ही यह प्रश्न किया कि रामराज्य ही क्यों? कृष्णराज्य क्यों नहीं? सटीक उत्तर पाकर वे संतुष्ट मालूम हुए। एक अन्य प्रश्न आया- क्या राम सर्वथा भले ही भले हैं या उनमें कोई कमी भी है?

कोरिया में कुछ ख़ास : जिस तरह वसंतोत्सव मनाया जाता है वैसे ही यहाँ उत्तरी पहाड़ों में मनाया जाता है - हिम उत्सव। बेहद सर्दी में जमी नदी के ऊपर सतर्कता से बर्फ के खेलों की योजना बनाई जाती हैं। स्लेजिंग, बाईकिंग, आइस फिशिंग। इस दौरान पकड़ी गई मछलियों को पका कर खाने का आनंद भी पर्यटक उठाएं, यह व्यवस्था भी की जाती है। सांस्कृतिक आयोजन होते हैं, सर्दियों के ख़ास भोजन की व्यवस्था भी।

लेकिन इस विवरण में यह जोड़े बिना बात पूरी नहीं होती कि कोरिया में पर्यटकों को विभिन्न उत्सवों में पहुंचाने का जिम्मा एक शटल बस लेती है। यह बस एक निश्चित समय पर निश्चित स्थान से चलती है। पर्यटकों को घूमने, उत्सव का आनंद लेने का समय देती है और एक निश्चित समय पर राजधानी लौट आती है। इस बस का किराया बहुत ही कम रखा गया है। जनवरी के अंत में जब हमने एक पर्वतीय स्थल पर होने वाले आइस फेस्टिवल में शिरकत की तो हमारे सहयात्री हांकांग और चीन से आए पर्यटक थे।

सर्दी भीषण है तो कमरा गर्म चाहिए। यह ठन्डे प्रदेशों की हीटिंग कहलाती है। कोरिया में इसका नाम ओंदोल है। यह फर्श को गर्म रखने की प्रक्रिया है। क्योंकि कोरिया में फर्श पर सोना और भोजन के लिए फर्श पर बैठना अब भी परम्परागत तरीका है।

परम्परागत कोरियाई घर हानोक कहलाते हैं। कोरिया में रहन-सहन के तरीकों का बदलाव सन् साठ के बाद अधिकाधिक हुआ। लेकिन आज भी हानोक शैली के घरों में जाकर रहने का अनुभव कराना कोरिया पर्यटन की एक महत्वाकांक्षी योजना है। इसी तरह की एक योजना टेम्पल स्टे भी है। बौद्ध मंदिर अपनी जीवनचर्या का साक्षात्कार कराने के लिए अपने द्वार आगंतुकों के लिए खुले रखते हैं। ध्यान, भोजन, चाय के साथ-साथ भिक्षु प्रमुख से संवाद और पर्वत श्रृंखला की सैर के दौरान ज्ञान-चर्चा - इस योजना का

> *नवम्बर आरम्भ तक कोरियाई परिवेश रंग-बिरंगे पत्तों से भरे सुंदर दृश्य उपस्थित करता है। इस समय जन सामान्य को बाकायदा सूचित किया जाता है कि किस समय किस राष्ट्रीय उद्यान या पर्वत प्रदेश में पहुँच कर आप इस सौन्दर्य को देख सकते हैं।*

बंदरगाह है। बुसान सही मायने में एक अंतर्राष्ट्रीय शहर है। यहाँ बहुत से अंतर्राष्ट्रीय समारोह होते रहे हैं - एशियाई खेल, अंतर्राष्ट्रीय फिल्म उत्सव और अंतर्राष्ट्रीय साहित्य उत्सव भी। तीसरा बुसान साहित्य उत्सव अक्टूबर २३, २४, २५ को हुआ, जिसमें भाग लेने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। पुक्यांग विश्वविद्यालय परिसर के विविध सभागारों में आयोजित इस उत्सव में अमेरिका की यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया, लॉस एंजिल्स के प्रोफ़ेसर जोसेफ़ मुख्य वक्ता थे। समारोह में जापान, उत्तरी कोरिया, चीन और भारत से आए साहित्यकारों ने भाग लिया। आमंत्रित विद्वानों ने अपने पर्चे पढ़े जिन पर विचार-विमर्श हुआ। कविता-पाठ की एक शाम आयोजित की गई। कोरियाई पारम्परिक नृत्य-संगीत के बीच कोरियाई भोजन का स्वाद चखा।

'कोरियन सोसायटी ऑफ़ इन्डियन स्टडीज़' की सेंतीसवीं अर्धवार्षिक गोष्ठी में शामिल होने का अवसर दिसंबर तेरह को मिला। यह गोष्ठी हान्कुक विश्वविद्यालय परिसर में संपन्न हुई। इसका मुख्य विषय 'भारतीय विचार और दर्शन : समसामयिक सन्दर्भ' था। भारत संबंधी प्रस्तुतियों के विषय

लोकप्रिय और महत्वपूर्ण हिस्सा बनते हैं। वैसे तो इस आवास के लिए एक बड़ी फीस देनी होती है किन्तु किसी ख़ास अवसर पर निःशुल्क आमन्त्रण दिया जाता है और तब विदेशी जनसमूह तथा छात्र-वर्ग अच्छी संख्या में यहाँ पहुंचते हैं।

ऐसे दो आयोजनों में शामिल होने का अवसर हमें भी मिला। भारत में महात्मा बुद्ध के गहन प्रवेश की वजह से भारतीय जन बौद्ध मंदिर बुलगुक्सा में विशेष ध्यान तो पाते ही हैं। यह प्रवास विश्व के अनेक भागों से आए लोगों से मिलने का एक सुअवसर भी प्रदान करता है। कोरियाई महिलाओं की परम्परागत पोशाक हान्बोक कहलाती है। अब यह विशेष अवसरों पर ही पहनी जाती है।

कोरिया में बच्चे का पहला जन्मदिन दोल है। परिवार में किसी सदस्य का साठवां जन्मदिन धूमधाम से मनाया जाता है इसे ह्वांगाप कहते हैं।

कोरिया का मुख्य भोजन चावल है जिसे विभिन्न सूप, सब्जियों और मांस के साथ परोसा जाता है। किन्तु कोरियाई भोजन किम्छी के बिना अधूरा है। यह बंदगोभी और मूली का मसालेदार व्यंजन है। सर्दी के लम्बे मौसम से पहले किम्छी बड़े-बड़े बर्तनों में बना कर संभाल दी जाती है। यह एक प्रकार से प्रत्येक भोजन में साइड डिश की तरह है जिसे कोरियाई भाषा में बानछान कहते हैं। स्प्राउट और हरी सब्जियां यहाँ के भोजन में नित्य रहती हैं, लहसुन, प्याज और खमीर युक्त होने के साथ-साथ कोरियाई भोजन मुख्य रूप से मांसाहारी है। मछली और कई तरह का मांस सभी को बहुत प्रिय है। कोरिया की पारंपरिक शराब माकोली है जो चावल से बनाई जाती है। त्यौहारों में चावल के बने केक कोरिया की एक अन्य विशेषता हैं। नए साल के आरम्भ में सूप के कटोरे में राईस केक के टुकड़े डाल कर खाना शुभ माना जाता है।

कोरिया में पहाड़ को कहते हैं - सान दोबांग्सान, नाम्सान, सोराक्सान आदि पहाड़ों के नाम हैं। और सा है बौद्ध मंदिर जोग्येसा, बुक्गुक्सा, मेगोक्सा। सिओल में कई बौद्ध मंदिरों के अतिरिक्त चर्च, एक मस्जिद और एक गुरुद्वारा भी हैं।

कोरिया में प्रायः पर्वतमालाओं को राष्ट्रीय उद्यानों के रूप में विकसित किया गया है। बाईकिंग अर्थात साईकिल-चालन के अतिरिक्त कोरियाई उम्रदराज़ जनता पर्वतारोहण की बेहद शौक़ीन है। सिओल का आकर्षण हान नदी का विस्तार है जिस पर सुन्दर पुल बने हैं। नदी तट पर घूमने के लिए सुरम्य पथ निर्मित हैं, पिकनिक के लिए विस्तृत मैदान भी हैं। आधुनिक बाज़ारों की चकाचौंध के बावजूद कोरियाई परम्परागत बाजारों की रौनक बरकरार है।

कोरियाई राष्ट्रपति आवास का नाम छंग्वादे या ब्लू हाउस है। इस भवन की छत नीले रंग की टाइल्स से बनी है। सिओल में स्मृति रूप में विशाल महल और द्वार आज भी विद्यमान हैं। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति पर कोरिया जापानी शासन से तो मुक्त हुआ किन्तु उसे शीतयुद्ध का ताप झेलना पड़ा। दो अलग-अलग सरकारें बन गई। १९५० का वर्ष भीषण कोरियाई युद्ध के लिए याद किया जाता है। युद्ध विराम १९५३ में ही हो सका। तीन वर्ष तक चले युद्ध के बाद विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया। उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच खट्टे-मीठे सम्बन्ध लगातार बने रहे हैं।

"कोरिया में प्रायः पर्वतमालाओं को राष्ट्रीय उद्यानों के रूप में विकसित किया गया है। बाईकिंग अर्थात साईकिल-चालन के अतिरिक्त कोरियाई उम्रदराज़ जनता पर्वतारोहण की बेहद शौक़ीन है।"

दिसम्बर महीने में प्रदर्शित फिल्म 'ओड टू माई फादर' इस समय कोरिया में बहुत सुर्ख़ियों में है। फिल्म १९५० के युद्ध में पिता और बहन से बिछुड़े उस परिवार की कहानी कहती है जिसमें बड़ा बेटा पिता की जगह लेकर मां-बहन और छोटे भाई का भरण-पोषण जी-जान से करता है। फिल्म बड़े बेटे के जीवन के पांच दशकों की कहानी है जो आधुनिक कोरियाई इतिहास के महत्वपूर्ण क्षणों का साक्षी बनता है। आश्चर्य नहीं कि इस फिल्म में कोरियाई पुरानी पीढ़ी अपने समय को जी रही है और नई पीढ़ी उनकी व्यथा का साक्षात्कार कर पा रही है।■

अनुराग शर्मा

उत्तरप्रदेश में जन्म. विज्ञान में स्नातक तथा प्रबंधन में स्नातकोत्तर. इन्टरनेट रेडियो (PittRadio) चलाने के अलावा हिन्दयुग्म पर प्रसारित स्वर-आकर्षण 'सुनो कहानी' का संचालन. कविता, कहानी, लेख आदि विधाओं में सतत लेखन. पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति पर सृजनगाथा में मासिक श्रृंखला एवं काव्य-संग्रह 'पतझड़ सावन वसंत बहार' प्रकाशित. Friends of Tibet (भारत) और United Way (संयुक्त राज्य अमेरिका) जैसे समाजसेवी संगठनों से जुड़े रहे हैं. संप्रति - अमेरिका में एक स्वास्थ्य संस्था में ऍप्लिकेशन आर्किटेक्ट हैं और पिटसबर्ग में रहते हैं.

सम्पर्क : indiasmart@gmail.com

पिट्सबर्ग के अनोखे परिवहन माध्यम

पिट्सबर्ग नदियों, पुलों और कोयले के पहाड़ों का शहर है। यह इस्पात और एल्युमिनियम उत्पादन के लिए भी प्रसिद्ध था। पिट्सबर्ग का नदी पत्तन अमेरिका का सबसे बड़ा नदी पत्तन रहा है। माउंट वाशिंगटन कोयले का पहाड़ है जहां से कच्चे माल को नीचे नदी तक लाना एक चुनौतीभरा काम था। पहाड़ से नीचे नदी तक आने के लिए सड़क मार्ग का प्रयोग हो तो सकता था मगर वह बहुत ही लंबा रास्ता होता। ऊंचाई इतनी ज़्यादा थी कि सीढ़ियां बनाना किसी काम में न आता। सो पिट्सबर्ग वालों ने एक अलग तरह के परिवहन साधन का प्रयोग किया। पहाड़ की ढलान पर ऊपर से नीचे तक रेल की पटरियों के दो जोड़े बिछाए गए और उन पर एक मोटे तार से तीन खंड में बंटी गाड़ी बांधकर उसे इस तरह जोड़ा कि जब एक गाड़ी पहाड़ के ऊपर हो तो दूसरी उसकी तली पर रहे ताकि कम से कम ऊर्जा लगाकर उनका परिवहन चलता रहे। इस तरह की सत्रह जोड़ियाँ खनिजों, लोगों, घोड़ों, वाहनों और अन्य सामान को पहाड़ की चोटी से नीचे नदी की सतह तक लाती थीं।

चूंकि पटरियाँ लगभग ३०-३५ अंश के कोण पर बनी थीं इसलिए इन पर चलने वाली यह गाड़ियां भी सीढ़ियों की तरह ऊंची-नीची बनी हुई थीं। इस परिवहन साधन का नाम था इन्क्लाइन। बदलते समय और तकनीकी प्रगति के साथ इन्क्लाइन का महत्त्व धीरे-धीरे कम हो गया तो इनकी संख्या घटने लगी। मगर बाद में सन् १८७० में शुरू हुई मोनोंगहेला इन्क्लाइन और सन् १८७७ में शुरू हुई ड्यूकेन इन्क्लाइन नाम की दो इन्क्लाइन को बचा कर रखा गया और यह दोनों आज भी पर्यटकों और नियमित यात्रियों को नदी तट पर बने स्थल स्टेशन स्क्वेयर और वॉशिंग्टन पर्वत के बीच की यात्रा कराती हैं। मामूली से टिकट पर आप इन्कलाइन की यात्रा कर सकते हैं। माउंट वाशिंगटन पर बनी दर्शन दीर्घायें पहाड़ी से नीचे नगर, नदियां और संगम का अप्रतिम दृश्य प्रस्तुत करती हैं। ऊपर एक छोटा-सा संग्रहालय, कई भोजनालय और अपार्टमेंट कॉम्प्लेक्स हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिकी सेना ने अपने तटों की रक्षा के लिए जनरल मोटर्स की सहायता से छः पहियों वाले ऐसे उभयचर वाहन का उत्पादन किया जो कि जल-थल दोनों में चल सके। इस वाहन को डक (या बत्तख) पुकारा गया हालांकि इसकी वर्तनी (dukw) थोड़ी अलग सी थी। ज़मीन पर ५० मील और पानी में ८ मील की रफ़्तार से चलने वाले यह उभयचर वाहन अमेरिका के अलावा ब्रिटिश, ऑस्ट्रेलियाई और रूसी सेनाओं को भी दिए गए थे। उस समय से आज तक युद्ध कला और परिवहन तकनीक में इतना परिवर्तन हो चुका है कि युद्ध में इन वाहनों की उपयोगिता लगभग समाप्त ही हो गयी। मगर ये नाव-बसें पिट्सबर्ग में आज भी पर्यटकों को नगर की ऐतिहासिक इमारतों और नदियों की सैर बखूबी कराती हैं। नदी के किनारे से चलने वाले यह टूर पहले किसी खुली बस की तरह डाउनटाउन के दर्शनीय स्थलों से परिचय कराती है और फिर किसी नाव की तरह नदी में उतरकर रोचक जलयात्रा कराती है।■

सन्ध्या सिंह

हिन्दी साहित्य से एम.ए. और बी.एड। सिंगापुर में हिन्दी सोसाइटी के मार्फत स्वयंसेवक के रूप में उच्च माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ाया। विगत १४ वर्षों से सिंगापुर में हिन्दी प्रचार-प्रसार में सक्रिय भूमिका। सिंगापुर की एन.पी.एस. अन्तर्राष्ट्रीय पाठशाला में हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं एन.यू.एस. में हिन्दी व्याख्याता के तौर पर काम किया। विभिन्न पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन।

सम्पर्क- sandhyasingh077@gmail.com

सिंगापुर की डायरी

सिंगापुर में चीनी नववर्ष

सिंगापुर चीनी बहुल जनसंख्या वाला देश है। यहाँ की लगभग ७४ प्रतिशत आबादी चीनी मूल की है। ज़ाहिर सी बात है कि इस देश में चीनियों का प्रमुख त्योहार चीनी नव वर्ष बड़े ही धूमधाम से मनाया जाता है। आबादी की बहुलता सार्वजनिक छुट्टी से लेकर साज-सजावट तक देखी जा सकती है। भारत में जो रौनक दीवाली पर और पश्चिमी देशों में क्रिसमस पर देखने को मिलती है वही रौनक सिंगापुर में चीनी नए साल पर देखी जा सकती है। चीनी नए साल को मनाने के पीछे कई विश्वासों और कहानियों का संगम है जिनमें सबसे प्रमुख मिथकीय आख्यान 'नियन' राक्षस का है।

ऐसा माना जाता है कि वसन्त के दौरान यह मिथकीय राक्षस फ़सलें बर्बाद कर देता था, बच्चों को उठा ले जाता था, जानवरों को खत्म कर देता था। इस विपदा से स्वयं को बचाने के लिए गाँववालों ने काफ़ी प्रयास किए पर ज़्यादा सफ़लता नहीं मिली। इसी दौरान यह तथ्य सामने आया कि नियन लाल रंग, तेज़ आवाज़ आदि से डरता है। बस फिर क्या था लोगों ने अपने घरों को लाल झालरों, काग़ज़ों, बत्तियों आदि से सजाना शुरू कर दिया और तेज़ आवाज़ वाले पटाखे भी बजाने लगे। नियन इन चीज़ों को बर्दाश्त नहीं कर सका और वह फिर कभी गाँववासियों को तंग करने नहीं लौटा।

> *भारत में जो रौनक दीवाली पर और पश्चिमी देशों में क्रिसमस पर देखने को मिलती है वही रौनक सिंगापुर में चीनी नए साल पर देखी जा सकती है।*

सिंगापुर में इस तरह के मिथकीय विश्वासों का प्रभाव पूरे शहर में दिखाई देता है। 'चाइना टाउन' नामक क्षेत्र को तो लाल रंग में इस प्रकार सराबोर कर दिया जाता है कि 'नियन' क्या कोई भी राक्षस नज़दीक आने से कतराएगा। चीनी समाज चन्द्र पंचांग का अनुसरण करता है अतः इसे वसन्त त्योहार के रूप में मनाया जाता है। अमावस्या के दिन पुराने वर्ष को विदा करते हुए नए वर्ष का स्वागत किया जाता है। यह त्योहार अमावस्या से पूर्णमासी तक १५ दिनों तक चलता है पर अब व्यस्तताओं से भरे सिंगापुर में पहले दो-तीन दिन ही ज़्यादा ख़ास रह गए हैं। पंद्रहवें दिन 'लालटेन त्योहार' पर पुनः रौनक लौट आती है।

सिंगापुर में चीनी नव वर्ष का इस वर्ष का 'थीम' है खुशियों और सम्पन्नता की भरमार। इसी विषय को कई सांस्कृतिक पहलुओं से लगभग डेढ़ महीने तक चलने वाले समारोह में प्रस्तुत किया जाएगा। इस दौरान चाइना टाउन की सजावट, मेला व नव वर्ष बाज़ार के भिन्न रूप लोगों को आकर्षित करते रहेंगे। हालाँकि विशेष बाज़ार की रौनक १८ फ़रवरी तक ही रहेगी क्योंकि खरीदारी का भूत त्योहार के एक दिन पहले तक ही होता है। चाइना टाउन में सांस्कृतिक भ्रमण के लिए 'वॉकिंग ट्रेल' का आयोजन भी किया जा रहा है जो लोगों को सांस्कृतिक गहराई का आभास करवाएगा।

इस वर्ष हर तरफ़ सजावट में बकरी की प्रतिकृति देखने को मिलेगी क्योंकि चीनी पंचांग के अनुसार आने वाला वर्ष 'बकरी वर्ष' है। इस दौरान जगह-जगह लायन व ड्रैगन शो का आयोजन भी किया जाता है। ये दोनों ही जीव चीनियों में बहुत शुभ माने जाते हैं और कहा जाता है कि अगर आप अपने यहाँ इनको बुलाकर नृत्य करवाते हैं तो आपका व्यवसाय समृद्धि के सोपान छूने लगेगा। इसी विश्वास के कारण व्यावसायी ही नहीं निजी विद्यालय व संस्थाएँ भी इनका नृत्य अपने प्रांगण में करवाती हैं। इस वर्ष एक सौभाग्यदायी बरगद के वृक्ष को भी लगाया गया है जहाँ लोग अपनी मनोकामना की अर्जी डाल सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह वृक्ष मनोकामनाएँ पूर्ण करता है।

इस त्योहार में परिवार के सभी सदस्यों का एक साथ भोजन करने की परम्परा काफ़ी महत्व रखती है। सिंगापुर के प्रधानमंत्री भी अन्य मंत्रियों के साथ 'रियूनियन डिनर' में शरीक होते हैं ताकि राजनीतिक एकता बरकरार रहे। इस वर्ष १८ फ़रवरी की शाम को 'रियूनियन डिनर' के लिए चीनी समुदाय अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्य के घर इकट्ठा होंगे और एक साथ पुनर्मिलन भोज का स्वाद उठाएँगे। इस भोज के दूसरे दिन नये वस्त्र पहनना, लाल रंग से घर की सजावट करना और संतरे लेकर रिश्तेदारों और मित्रों से मिलने जाने का सिलसिला शुरू होगा। घर ही नहीं शहर भर में लाल कागज़ी कतरनों के भिन्न डिज़ाइनों पर सुख, सम्पन्नता, दीर्घायु, खुशहाली जैसे शब्दों की सजावट नज़र आने लगी है। इस त्योहार पर लाल लिफ़ाफ़े देने का चलन भी चीन की तरह है। छोटे बच्चों, नव विवाहितों को घर के बड़ों से लाल लिफ़ाफ़े मिलते हैं जिन्हे 'हौंग पाओ' कहा जाता है। इन लिफ़ाफ़ों में पैसे सम संख्या में होते हैं जैसे छ या आठ। संख्या आठ चीनियों में सम्पन्नता व अच्छे भाग्य का प्रतीक माना जाता है। सिंगापुर का समाज बहुप्रजातीय है अतः चीनी नव वर्ष के समय अन्य प्रजातियों के लोग कम छुट्टी लेते हैं ताकि चीनी लोग अपने त्योहार को अधिक जोश से मना सकें। सिंगापुर में यही एक त्योहार है जब लगभग सारे बड़े खरीदारी केन्द्र बन्द रहते हैं और लोगों को वास्तविक छुट्टी का आभास होता है। दिवाली, ईद, क्रिसमस चाहे कोई भी अन्य त्योहार हो सिंगापुर की सड़कों पर चहल-पहल ही नज़र आती है पर चीनी नव वर्ष के समय दुकानों समेत सड़कों पर भी सन्नाटा पसरा नज़र आता है। त्योहार कोई भी हो जब समाज शान्ति, सौहार्द्र और सद्भाव से हिस्सा लेता है तो उसकी रौनक अपने आप बढ़ जाती है।■

> *दिवाली, ईद, क्रिसमस चाहे कोई भी अन्य त्योहार हो सिंगापुर की सड़कों पर चहल-पहल ही नज़र आती है पर चीनी नव वर्ष के समय दुकानों समेत सड़कों पर भी सन्नाटा पसरा नज़र आता है।*

डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा 'गुणशेखर'

१ नवम्बर १९६२ के समशेर नगर, बहादुर गंज, सीतापुर, उत्तर प्रदेश में जन्म। विगत दो दशकों से साहित्य सृजन में सक्रिय। 'दलित साहित्य का स्वरूप विकास और प्रवृत्तियाँ' पुस्तक प्रकाशित। शिरोमणि सम्मान (साहित्य, कला परिषद जालौन) तथा तुलसी सम्मान (मानस स्थली, सूकरखेत, उत्तर प्रदेश) से सम्मानित। सम्प्रति- आचार्य, हिन्दी विभाग, गुआंगदांग अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ग्वान्जाऊ,चीन।

सम्पर्क : dr.gunshekhar@gmail.com

चीन की डायरी

परीक्षा जहाँ 'कठिन परीक्षा है' मज़ाक नहीं

चीन में परीक्षा को लेकर विद्यार्थियों की गंभीरता देखने लायक होती है। शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में से कोई भी शिक्षा और परीक्षा को गंभीर चुनौती के रूप में लेता है। शिक्षा और परीक्षा दोनों यहाँ मूल्य निर्माण की एक इकाई हैं। इसलिए यहाँ परीक्षा भी कठिन परीक्षा है मज़ाक नहीं। कोई भी पाठ्य सामग्री हो उसके रेशे-रेशे को अलग करके पड़ताल कर लेते हैं ये। इन्हें मैं हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रश्न-पत्र में देख चुका हूँ। बारीकी से पाठ्य सामग्री का अध्ययन करते हैं फिर उस पर प्रश्नावली बनाते हैं। यद्यपि इसे मैंने ही इन्हें सिखाया लेकिन मैं नहीं जानता था कि इतनी जल्दी ये मेरी ही नाक में पानी भर देंगे। किसी भी सामग्री को कई दृष्टिकोणों से देखना कोई इनसे सीखे। साहित्य के इतिहास पर कभी-कभी ये ऐसे प्रश्न पूछ देते थे कि मुझे लगता ही नहीं था कि मैं गैर मुल्क में हूँ। एक ने पूछा, 'बिहारी रीति सिद्ध कवि हैं कि रीतिमुक्त? भूषण के छंद प्रयोग तो उन्हें रीतिबद्ध कवि बनाते हैं। आपकी क्या राय है? चारणों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह डिंगल अधिक है हिन्दी कम। संत और भक्त कवि खुद अपने पर नियंत्रण कर लेते। स्त्री को क्यों दोष देते रहे?' आदि-आदि।

यहाँ की परीक्षा प्रणाली पूरी तरह से विकसित देशों जैसी है। यहाँ के किसी भी विश्व विद्यालय में भारत जैसी पारंपरिक परीक्षा प्रणाली नहीं है। यहाँ की विकेन्द्रित परीक्षा प्रणाली के कारण परिणाम में विलंब नहीं होता। हर विभाग अपनी परीक्षा की ज़िम्मेदारी स्वयं संभालता है। पचीसों हज़ार विद्यार्थियों के परिणाम बिना बाबुओं के हस्तक्षेप के समय पर ऑनलाइन टाइम टु टाइम मिल जाते हैं। छात्रों का भी अनावश्यक हस्तक्षेप यहाँ शिक्षा-परीक्षा किसी में भी नहीं है। अनिवार्य राजनीतिक शिक्षा और मर्यादा दोनों एक साथ देखकर मैं इनकी शिक्षा प्रणाली पर मुग्ध हूँ। मार्क्सवाद यहाँ अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है। यहाँ क्रान्ति की राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा भी शांति पूर्वक राजनीतिक दल के नेतृत्त्व में दी जाती है। लेकिन मजाल है कि कहीं भी हो हल्ला हो।

परीक्षा की इस गंभीरता को देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। मैंने कुछ विद्यार्थियों से इसका कारण जानना चाहा तो उन्होंने बताया यहाँ का हर युवक-युवती गंभीर ज्ञान चाहता है। यहाँ का जीवन स्तर उच्च होने से स्त्री-पुरुष दोनों का काम करना ज़रूरी होता है। नौकरी से लेकर व्यवसाय तक में अब उच्च स्तरीय ज्ञान की आवश्यकता होती है। कोई फैक्ट्री डालें तो उसमें भी भौतिकी और रसायन के गंभीर ज्ञान की ज़रूरत होगी। भारत की तरह केवल मैनेजरों के भरोसे फैक्ट्रियाँ यहाँ नहीं चलतीं। यहाँ कई फैक्ट्री मालिकों से भेंट हुई। उनके तकनीकी ज्ञान और उन्हें अपने सामान के कैटलॉगों की व्याख्या करते देखकर कई बार दंग रह गया हूँ।

इक्कीसवीं सदी में एशियाई देशों ने ज़मीन पर गरीबी से लड़ने से लेकर अंतरिक्ष में उपग्रह स्थापन तक नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इनमें भारत और चीन ने यूरोपीय देशों समेत अमेरिका तक से होड़ करते हुए अपने वैज्ञानिक

भारत और चीन में एक और ख़ास अंतर मैं देखता हूँ। वह अंतर ज्ञान-विज्ञान को सार्वजनिक रूप से व्यवहार में लाने का है। भारत तकनीक में चीन से पीछे है या नहीं, तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण यह मैं दावे से नहीं कह सकता, लेकिन तकनीकी व्यवहार में चीन को अपने से आगे पाता हूँ।

अनुसंधानों और भौतिक संसाधनों के विकास से नई संभावनाएँ जगाई हैं।

दोनों देश साथ-साथ आगे बढ़ रहे थे लेकिन भारत कब पिछड़ गया यह हमारे कर्णधारों को होश ही न रहा। चीन आसमान को भी देखता रहा और ज़मीन पर भी पैर टिकाए रहा। हम कभी अति आदर्शवादी हो गए तो कभी अति यथार्थवादी। कभी सिद्धांतों के तार इतने कस दिए कि वे टूट ही गए और कभी इतना ढीला छोड़ दिया कि वे निरंकुश हो गए। उनसे कोई सुर ही नहीं निकला। इस तरह हम अपने ही बुद्ध के मध्यम मार्ग के सिद्धांत को भूल गए पर चीन नहीं भूला। वह हमेशा बुद्ध के इस मध्यम मार्ग के सिद्धांत पर अटल रहा। भारत और चीन में एक और ख़ास अंतर मैं देखता हूँ। वह अंतर ज्ञान-विज्ञान को सार्वजनिक रूप से व्यवहार में लाने का है। भारत तकनीक में चीन से पीछे है या नहीं, तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण यह मैं दावे से नहीं कह सकता, लेकिन तकनीकी व्यवहार में चीन को अपने से आगे पाता हूँ।

यहाँ के कई विश्वविद्यालयों में मेरा जाना हुआ है। सभी के कक्ष सजे-धजे मिले। दालानों की फ़र्श तक पर मुँह देख सकने लायक सफ़ाई और चमक मिली। जब-जब मैं भी अपने विश्व विद्यालयों को ऐसे ही बनाने की कल्पनाएँ करता, इन पर पग रखता हूँ तो एक प्रतिध्वनि-सी मेरे कानों में गूँजती है, जिसमें ये मुझसे यही कहती हुई मिलती हैं- 'पहले अपना मुंह देख लो।' मैंने सच में कई बार इन फर्शों में प्रतिबिंबित अपनी छवि को निहार कर उस पर निछावर हुआ हूँ।

यहाँ प्रायः हर विश्व विद्यालय के देर रात तक जगमग करते चार-पाँच मंज़िली विशालकाय पुस्तकालय और दिन में पार्क से लेकर किसी झील या नहर के किनारे तक टैब, लैपटॉप, नोटबुक और नोट्स लिए पढ़ते विद्यार्थियों को देखकर आश्चर्य मिश्रित हर्ष होता है। सच में यूरो-अमेरिकी ज्ञान-विज्ञान को व्यवहार में लाता देश है चीन। अपने देश में जिस नई पीढ़ी को कोस-कोस कर हम थक जा रहे थे उसी नई पीढ़ी ने मुझे यहाँ जवान और ऊर्जावान बना दिया है। विद्यार्थियों को कितना भी पढ़ाओ थकते ही नहीं हैं। कभी बोरिंग प्रोफ़ेसर या अन्य कोई संज्ञा, विशेषण भी नहीं देते। ऐसा दावा इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि वे किसी के लिए अपशब्द का आगे-पीछे कहीं भी इस्तेमाल नहीं करते तो क्या मेरे लिए ही करेंगे। उल्टे परिश्रमी, विद्वान और अपना शुभ चिन्तक आदि न जाने क्या-क्या मान बैठते हैं। अपने यहाँ तो किताबी कीड़ा आदि कहकर जिन्हें उपेक्षित किया जाता है ऐसे विद्यार्थियों को यहाँ साथियों और गुरुओं दोनों द्वारा हाथों-हाथ लिया जाता है। गुरुओं के लिए गुरुकुली आदर यहाँ आज भी जीवित है। अभी कल की बात है एक अभिभावक जो यहाँ के लोकसेवा आयोग जैसे सरकारी-सेवा भर्ती संस्थान के अध्यक्ष हैं भेंट में मेरे लिए समुद्री वनस्पति का आहार लाए थे। ये यहाँ आम है। अपने यहाँ भी था लेकिन वहाँ से यह चलन उठ रहा है। वहाँ इतने बड़े ओहदे पर बैठे हुए व्यक्ति के लिए रीडर, प्रोफ़ेसर लाइन लगाकर मिलते हैं। यहाँ ये मिलने आते हैं। यह मूलांतर मैं इन दिनों के दोनों देश के बीच देख रहा हूँ। यहाँ के छात्रों में 'कुटिल छात्र राजनीति' बिल्कुल नहीं है। यहाँ के छात्र संघ सैद्धांतिक राजनीति में विश्वास करते हैं। वह राजनीति जो केवल अध्ययन-अध्यापन के विषय तक सीमित है और जिसका व्यावहारिक जीवन में अभी उपयोग नहीं है। इसका उपयोग वे विद्याध्ययन के बाद प्रौढ़ होने और राजनीति को पेशा बनाने पर कर सकते हैं। ठीक वैसे ही जैसे अपने यहाँ एनसीसी कैडेट गोली चलाना सीखते हैं लेकिन सामाजिक जीवन में चलाने नहीं लगते। वे मिलेट्री की सेवा का अवसर मिलने पर उसका सदुपयोग करते हैं। हमारे यहाँ इसी कच्ची उम्र में सैद्धांतिक के बजाय व्यावहारिक राजनीति सिखाने की गलती की गई। यह गलती अपने स्वतंत्रता के पूर्व के नेताओं ने शुरू की जिसका ख़ामियाज़ा पूरे भारतीय शिक्षा जगत को भुगतना पड़ा। अपनी शिक्षा राजनीति का शिकार हो गई। आए दिन हो-हल्ला और परीक्षाओं का बहिष्कार छात्र नेताओं का शगल हो गया। चरित्र और मूल्य प्रधान अपनी भारतीय शिक्षा का यह अधोपतन बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में घोर राजनीतिक पतन के साथ-साथ आया।

बच्चों और अभिभावकों दोनों के लिए शिक्षा यहाँ आज भी संस्कार की तरह है, व्यवसाय की तरह नहीं। इस देश के जनजीवन ने अपनी संस्कृति को अभी भी गले लगाए रखा है। इसने यूरोपीय और अमेरिकी ज्ञान-विज्ञान लिया है संस्कृति नहीं। यूरोपीय सभ्यता का असर तो है लेकिन वह वस्त्रों और स्थापत्य तक ही सीमित है। विकास की कीमत पर इन्होंने अपनी जड़ों को नहीं बेचा है। उनको कटने नहीं दिया है बल्कि यथा संभव निरंतर सींचा है। चीनी संस्कृति और दर्शन का दुनिया भर के दर्शनों से तुलनात्मक विवेचन और विश्लेषण

करते हुए यहाँ के विद्यार्थी मुझे बहुत प्रभावित करते हैं। विद्यार्थियों की माँग पर दूसरे सेमेस्टर से मुझे भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का एक पेपर भी पढ़ाने को मिलेगा। मैं सोचता हूँ कि धर्म को सभी समस्याओं की जड़ समझने वाले मुझ नास्तिक से यह काम कैसे संभव हो पाएगा? न्याय हो भी पाएगा या नहीं? कभी-कभी लगता है कि हो पाएगा क्योंकि अपने इसी दुर्गुण की वज़ह से मैं किसी भी धर्म के प्रति पूर्वग्रह से मुक्त रहूँगा।

यहाँ शिक्षण में ज्ञान-विज्ञान की समस्त आधुनिक तकनीकों का इस्तेमाल होता है। हर कक्ष पुराने हरित पट्टों (श्याम पट्ट तो पुराने नहीं पुरातन हो चुके हैं।) के साथ कंप्यूटर चालित नवीन श्वेत स्क्रीनों से सज्जित है। कोई भी शिक्षक देश-दुनिया के किसी भी कोने से ज्ञान लाकर विद्यार्थियों के समक्ष पल भर में रख सकता है। मुझे भी हिंदी संदर्भ ग्रंथों की अनुपलब्धता में ये साधन 'हारे को हरिनाम' सिद्ध हुए हैं।

भारत में रहते हुए चीन को कूड़ा सामान बनाने वाला देश भर समझता था। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में तो इसे इतना ऊँचे पहुंचा हुआ नहीं ही जानता था। खासकर अकादमिक क्षेत्र में इसे अपने से पिछड़ा ही मानता था। यहाँ आकर पता चला कि लगभग सौ प्रतिशत साक्षरता से लैस शहरों और नब्बे से ऊपर की ग्रामीण साक्षरता वाला यह देश अपने से हर क्षेत्र में बहुत आगे है। बहुत दिनों तक इसे किसी न किसी क्षेत्र में अपने से पीछे करने के लिए प्रमाण जुटाने में लगा रहा। इस तरह कुछ चीनी साथियों को यह मनवाने में सफल रहा कि भारत जैसा कोई साइबराबाद चीन में नहीं है। इसके अलावा और किसी क्षेत्र में अब तक मैं अपने को आगे सिद्ध नहीं कर पाया हूँ।

चीन का अपने से शिक्षा में आगे होने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इसके एक ही विश्वविद्यालय में अपने ही देश के पांच सौ विद्यार्थी मेडिकल शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यहाँ के नानफांग मेडिकल विश्वविद्यालय में लगभग दस हज़ार मेडिकल छात्र हैं। यहाँ मैंने जर्मनी तक के दस-ग्यारह विद्यार्थी देखे और भी यूरोपीय देशों के होंगे। एशिया के प्रायः हर देश के अध्यापक और छात्र यहाँ के विश्वविद्यालयों में भरे पड़े हैं। कुछ दिनों पूर्व मेरे गुआंगदोंग विश्वविद्यालय के प्रीतिभोज में सैकड़ों एशियाई और पचासों यूरोपीय नवागत प्रोफ़ेसरों का अध्यक्ष के द्वारा स्वागत किया गया। उस समय लगा कि विश्व विद्यालय में विश्व भर के देशों का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए न कि केवल नाम। यहाँ के हर विश्व विद्यालय में विश्व भर के शिक्षक और विद्यार्थी देखता हूँ तो यह सब देखकर आश्चर्य में पड़ता हूँ और मुंह से अनायास निकल पड़ता है कि इसे कहते हैं विश्व विद्यालय! अपने यहाँ गाँठ में पैसे हों तो चाहे निरमा विश्व विद्यालय खोल लो चाहे सनलाईट। यहाँ के मेडिकल विद्यार्थियों को प्रति तीन-चार विद्यार्थियों पर एक शव अध्ययन के लिए मिलता है। मैंने यहाँ आए अपने देश के विद्यार्थियों से पूछा कि अपने वहाँ पर कितने पर एक शव मिलता है तो पता चला कि अपने देश में यह अनुपात पन्द्रह से बीस का रहता है।

> *यहाँ के विद्यार्थी किसी भी भाषा को पढ़ते हैं तो उस भाषा-भाषी देश की सभ्यता और संस्कृति को भी समझने के लिए अनेक स्रोतों की तलाश में रहते हैं। हिन्दी पढ़ते समय भारत के दर्शन और उसकी पारंपरिक विरासत पर भी वे बहुत कुछ जान लेना चाहते हैं। उनकी इतनी गहरी जिज्ञासाएँ रहती हैं कि प्राध्यापक बताते-बताते थक जाएँ।*

शिक्षा जगत से जुड़े होने के कारण जहाँ भी जाता हूँ शिक्षा-दीक्षा और परीक्षा में आधुनिक तकनीकों के उपयोग बहुत प्रभावित करते हैं। इसकी सुख सुविधाओं को देखकर लगता है कि यह विकसित देश ही है। लेकिन यह स्वयं नहीं घोषित करता। इसका राज़ क्या है? पता नहीं। परीक्षा के लिए हर कक्ष में कंप्यूटर संचालित स्क्रीन पर टाइम दिखाया जाता है। इससे विद्यार्थियों को बार-बार अपनी घड़ी देखने की चिंता नहीं रहती। विदेशी भाषाओं के लिए विषयगत के बजाय वस्तुगत प्रश्न रचना पर अधिक बल दिया जाता है। इसके बावजूद आश्चर्य होता है कि विद्यार्थी विषय के गूढ़ से गूढ़ मर्म को पकड़ने की कोशिश करते हैं।

प्रथम सेमेस्टर में मैंने भारत और बर्मा तथा चीन के पारस्परिक रिश्तों पर टिप्पणियाँ पूछी थीं। इनके उत्तर में उन्होंने गहरी राजनीतिक सूझ का परिचय दिया। इससे लगा कि वे भाषा को ही नहीं उसकी भाषिक संस्कृति को भी समझने की पूरी कोशिश करते हैं। यहाँ के विद्यार्थी किसी भी भाषा को पढ़ते हैं तो उस भाषा-भाषी देश की सभ्यता और संस्कृति को भी समझने के लिए अनेक स्रोतों की तलाश में रहते हैं। हिन्दी पढ़ते समय भारत के दर्शन और उसकी पारंपरिक विरासत पर भी वे बहुत कुछ जान लेना चाहते हैं। उनकी इतनी गहरी जिज्ञासाएँ रहती हैं कि प्राध्यापक बताते-बताते थक जाएँ।

मैं चाहता हूँ कि अपना देश भी अपने विश्व विद्यालयों को इसी तरह यूरो-अमेरिकी शिक्षा और परीक्षा प्रणाली से लैस करके उसे अधुनातन बनाए और दो हज़ार बीस तक दुनिया के दस विश्व विद्यालयों में कम से कम एक अपना भी नाम लिखाए। यह सपना है। सपना देखने से किसी को कौन रोक सकता है। सपने देखना शुरू करेंगे तभी वे सार्थक भी होंगे। इसकी शुरुआत केन्द्रीय विश्व विद्यालयों से की जा सकती है।■

प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी

कानपुर में जन्म। पढ़ाई राजघाट, वाराणसी के प्रतिष्ठित जे. कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन में हुई। १९८४ से २००१ तक वसंत कॉलेज फ़ॉर विमैन के हिन्दी विभाग की अध्यक्ष रहीं। सूरीनाम में आयोजित सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन की संयोजक। दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न साहित्यिक विभूतियों पर डॉक्यूमेंटरी फिल्मों का निर्माण। जापान, मॉरिशस, अमेरिका, इंग्लैंड सहित अनेक यूरोपीय और कैरिबियन देशों में काव्य-पाठ। सम्प्रति - नीदरलैंड स्थित 'हिन्दी यूनिवर्स फाउंडेशन' की निदेशक हैं।

सम्पर्क : Postbus 1080, 1810 KB Alkmaar, The Netherlands. email : pushpita.awasthi@bkkvastgoed.nl
info@Pushpitaawasthi.com, http://Poetpushpita.blogspot.in, http://Pushiptaawasthi.blogspot.in

बुढ़ापे की सिहरनों में सुख

बूढ़े होने से बहुत पहले बुढ़ापा और मृत्यु का भय लोगों की संवेदनाओं में अपना ठिया बना चुका होता है। प्रायः जन्मदिवसों 'फरियारदाख़' के अवसर पर लोग उम्र और बुढ़ापे के गठजोड़ और समीकरण में पड़ जाते हैं। यूरोप और पाश्चात्य देशों के लोगों के बीच 'बुढ़ापा' शब्द में ही वृद्धालय भी समाविष्ट है जैसे। वृद्धालय पर चर्चा छिड़ते ही उनकी रूह कांप उठती है। कान में हियरिंग मशीन लगते ही, कुछ तो अनसुनी करने का मौका कुदरती तौर पर मिल जाता है... पर हियरिंग मशीन के रूप में बुढ़ापा कान में टंग ही जाता है और हमेशा कान पकड़े रहता है। चश्मा तो नाक पर चढ़कर सीधे रास्ते चलने की डंडी-कमानियों के द्वारा मारता ही रहता है।

बुढ़ापा किसी कैदखाने से कम नहीं है। आत्मनिर्भरता परनिर्भरता में बदल जाती है। एक तरफ देह दूसरों की सहारे की कृपा पर निर्भर हो जाती है तो दूसरी ओर मन अपनी तरह से अपनों के लिये बेचैन रहने लगता है। जबकि आम लोग न तो बूढ़ी देह को देखना चाहते हैं और न ही सुनना। क्योंकि नये लोगों के लिये यह सब किसी मौत के गलियारे से गुजरने जैसा भयानक होता है। नीदरलैंड में चाहे सरकारी नौकरी करते हो या प्राइवेट सेवाएं, उद्योगादि चाहे (लेबर) मजदूरी का काम करते हों या अपना (बिजनेस) व्यवसाय। बुढ़ापा और रिटायरमेंट दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं पर यह हर एक के 'जीवन के सिक्के' में चढ़े-मढ़े हुये हैं। बुढ़ापा देह के स्तर पर जर्जर करता है तो रिटायरमेंट मन-मानस के स्तर पर तोड़ता है। दोनों तरह के यह सदमे व्यक्ति की चित्र और चेतना को अपनी तरह से दुर्बल बनाते हैं। जिससे आत्मविश्वास के स्तर पर वह भीतर-ही-भीतर लड़खड़ा चुका होता है। अपनी अन्तर शक्तियों पर से उसका अपना विश्वास उठ चुका होता है जिसे बॉडी फिटनेस केन्द्र, एल्कोहल और प्लास्टिक सर्जरी जैसी शक्तियाँ भी नहीं सम्हाल पाती हैं। दरअसल 'यूरोप' में बुढ़ापा 'ब्लैक होल' में प्रवेश करने जैसा भयानक है इसलिये रिटायरमेंट के बावजूद लोग अस्सी साल तक न तो खुद को बूढ़ा समझते हैं और न दूसरे को मानते हैं जबकि 'रिटायरमेंट' का मतलब है - हर स्तर पर - चारों तरफ से धकिया दिये जाने का असह्य बोध। कवि कुंवर नायारण की कविता 'सहयात्री' को लेकर कहें कि - '*इन दिनों एक बूढ़ा / हर समय मेरे साथ बना रहता है...*'

दरअसल 'बुढ़ापा' व्यक्ति के देह-मन में एक बूढ़े की तरह ही साथ रहता है- *असह्य हो चला है / उसका यह हर घड़ी का साथ / उसकी सनक / उसका भुलक्कड़पन, उसकी अनाप-शनाप जरूरतें..* (संग्रह 'हाशिए का गवाह', पृ. ६८, कवि कुंवर नारायण)।

बुढ़ापे का यह बोध देह में 'सहयात्री' बनकर बुढ़ापे का बूढ़े की तरह बहना विश्व के हर व्यक्ति के बुढ़ापे की सच्ची संवेदना है। देह का जर्जरपन और असमर्थता जितना मन को तोड़ती है उससे कहीं अधिक घर-परिवार और समाज का उपेक्षाभाव घातक आघात करता है। बुढ़ापे की आहटें मिलते

ही व्यक्ति अपने को समय की अंधेरी कोठरी में कैद हुआ महसूस करने लगता है और कुछ तो मनोवैज्ञानिक रूप से रुग्ण हो जाते हैं और उन्हें मनोचिकित्सकों की नर्सिंग होम में जाना पड़ता है।

यूरोप और पश्चिम के अन्य देशों की तरह ही नीदरलैंड देश के घरों में बूढ़ों की जगह नहीं है, लेकिन यहाँ भी सरकार और व्यवस्था से बूढ़ों को संरक्षण, स्वास्थ्य और सेवाएं नसीब हैं। परिवार की जीवन-संस्कृति में बुढ़ापे के लिये ठौर-ठिकाना नहीं है लेकिन देश की संस्कृति में बुढ़ापे को जीवन-प्राप्त है। ऐसे तो घरों में बूढ़े नहीं दिखायी देते हैं लेकिन जन्मदिवसों के दिन परिवार का कोई सदस्य उन्हें वृद्धालय से ढो लाता है- भारपूर्वक बहुत कृपा और एहसान सहित। जबकि वे वृद्धालय में हर क्षण इसकी प्रतीक्षा करते हैं और धुंधली आँखों से उंगलियों में दिन गिना करते हैं।

यहाँ की सम्पूर्ण संस्कृति और सरकारी तंत्र में बूढ़ों को महत्व दिया जाता है और अतिरिक्त रूप से इनकी विशिष्ट देखभाल की जाती है। सार्वजनिक स्थलों बाजार, सिटी सेन्टर, रेस्टोरेंट, संग्रहालयों, बस, रेलगाड़ी सभी जगहों पर सामान्य नागरिकों से भी अधिक सुविधायें इन्हें प्राथमिकतापूर्वक प्रदान की जाती हैं। कार पार्किंग, शौचालयों तक में इनके लिये विशिष्ट व्यवस्था है।

विश्व प्रसिद्ध पुष्प उद्यान कोकेनहॉफ में पुष्पों से सजी-संवरी क्यारियों से सटे लगे रास्तों पर, वहाँ के रेस्तरां में रंगीन खिले हुये कपड़ों से सजी-धजी बूढ़ों की देह नकली दांत के सेट सहित हंसती-मुस्कराती मिल जायेगी। व्हील चेयर पर बैठे, यह रोलेटर से चलते हुये इन बूढ़ों के साथ वृद्धालयों के कार्यकर्ता होते हैं। किसी भी फुटबाल स्टेडियम की आगे की सुरक्षित प्रथम पंक्ति में (गोल साइड में) व्हील चेयर और स्टेडियम की कुर्सी पर बैठे हुये वृद्ध स्त्री-पुरुष सहज ही दिख जायेंगे। फिर चाहें पानी बरस रहा हो या बर्फ गिर रही हो। विशेष तरह की डिजाइन के रेनकोट उनकी देह को ढाँपे बचाये रखते हैं- आपादमस्तक। कामकाजी दिवसों में संग्रहालयों में इनकी भीड़ रहती है वह फिर वॉनगॉग म्युजियम हो या राइक्स म्युजियम या फिर रैंब्रा म्युजियम। उपस्थित जनसमुदाय में यह तीस से चालीस प्रतिशत की जनसंख्या में घूमते हुये दिख जायेंगे। यहाँ तक कि दिन-दोपहर में भी रेस्तरॉओं में बीयर या वाइन पीते हुये बूढ़े ही नहीं उनका बुढ़ापा भी मिल जायेगा फिर चाहें वे व्हील चेयर पर हों या रोलेटर के सहारे हों।

दरअसल, इन देशों की व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि इन बूढ़ों के पेंशन की उम्र तक में पहुँचने पर इन्हें उन सभी संस्थाओं से जीवन पर्यन्त पेंशन प्राप्त होती है, जिन संस्थाओं में इन्होंने नौकरी की है। यदि इन्होंने पाँच संस्थाओं में नौकरी की है तो उन्हें इन पाँचों संस्थाओं से निर्धारित (नियमानुसार) पेंशन राशि खाते में जमा होती रहेगी - फिर चाहे वह सरकारी नौकरी हो या कोई प्राइवेट व्यवसायी संस्था। अगर देखा जाये तो इन देशों में प्राइवेट संस्थाएं भी सरकारी संस्थाओं की तरह सक्रिय रहती हैं और उन्हें भी वैसी ही प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता हासिल रहती है और पेंशन राशि को लेकर कोई धांधली नहीं होती है।

यहाँ के सोशल सिक्युरिटी सिस्टम के तहत आप नौकरी में हों या नहीं लेकिन बुढ़ापे में पेंशन के साथ-साथ चिकित्सा, मनोरंजन और सेवा-शुशुषा की पूरी जिम्मेदारी सरकार की होती है। प्रति बूढ़े व्यक्ति पर यहाँ की सरकार साढ़े तीन हजार यूरो कम-से-कम खर्च करती है फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। इस राशि को देने के लिये नौकरी में लगे हुये हर व्यक्ति से प्रति माह अच्छा-खासा टैक्स वसूलती है। सरकार जो कमाती है उन्हें असमर्थ, विकलांग और वृद्ध लोगों की परवरिश में व्यय कर देती है जिससे देश के रहन-सहन का स्तर एक सीमा तक समानधर्मा और संतुलित रहे। यहाँ चालीस हजार यूरो से अधिक कमाने वाले प्रति व्यक्ति को बावन प्रतिशत टैक्स भरना पड़ता है।

वृद्ध हुए व्यक्तियों के लिये यद्यपि घर के अलावा वृद्धालय हैं, लेकिन वे चाहें तो वृद्धावस्था में बूढ़े होने पर उनके घर पर ही- सरकार के योग्य कार्यकर्ता उनको नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने और घर-कपड़ादि स्वच्छ सफाई करने के लिये पहुंच जाते हैं, लेकिन यदि वे वृद्धालय में रहना चाहते हैं तो वहाँ तीन या चार स्टार के स्तर की सुविधाओं से सम्पन्न उन्हें दो कमरे का, सेवा करने वाले विशेषज्ञों सहित आवास-निवास सुविधा प्राप्त हो जाती है। अपना कमरा, सुसज्जित बाथरूम, किचन जहाँ कोई दुर्घटना न हो जाये इस बोध के कारण व्यवस्था द्वारा भोजन पकाने की सुविधा रहित रसोई, लेकिन भोजन गर्म करने की सुविधा रहती है। इस्तेमाल और

पहनने वाले सभी कपड़ों पर नम्बर होते हैं जो लान्ड्री से धुलकर आते हैं। सबेरे छह से सात बजे के बीच सिस्टर नहलाने, चाय और नाश्ता देने आती है। दोपहर में हर दिन अलग तरह का भोजन रहता है जिसे एक दिन पूर्व सूचित कर देना पड़ता है। डिनर के रूप में शाम को हल्का नाश्ता, दूध और फलादि मिलता है। कमरा-दर-कमरा चाय और काफी वहाँ के सेवकों द्वारा कई बार दी जाती है। टी.वी. और रेडियो आदि की सुविधा, मनोरंजन कक्ष और स्वागत कक्ष के अलावा हर व्यक्ति के अपने कमरे में रहती है।

वृद्धालयों में बूढ़े लोगों के लिये विशिष्ट तरह का 'जिम' होता है जहाँ सक्षम अधिकारियों की देखरेख में वे व्यायाम करते हैं। वृद्धालय के कैम्पस में ही हेयर कटिंग सैलून, ब्यूटी पार्लर और अन्य सामान खरीदने की दुकानें होती हैं। डायनिंग हॉल किसी होटल के रेस्तरां कक्ष की तरह सजा-धजा रहता है। रात होने पर भी, नर्सें अपनी ड्यूटी के मुताबिक कई बार कमरे में झांकने आती हैं कि बुजुर्ग ठीक तरह से आरामदायक नींद ले रहे हैं या नहीं। वैसे हर कमरे की शैय्या और शौचालय में कमोड के पास 'अलार्म बेल' रहती है जिसका वे आवश्यकता पड़ने पर उपयोग कर सकते हैं। कभी-कभी कुछ बूढ़े रात में ही रोलेटर लेकर सैलानियों में घूमने निकल जाते हैं, इसलिये भी बार-बार निगरानी जरूरी है।

नीदरलैंड सहित पूरे यूरोप में ट्रेन, ट्राम और सड़क पर उनके लिये अलग से रास्ता है जिस कारण वे पूरी सुरक्षा के साथ पूरे नगर में घूमघाम सकते हैं। बीच-बीच में परिवार के सदस्य, पड़ोसी और दोस्तादि मिलने आ जाते हैं। विजिटर्स लिस्ट में उनका नाम रहता है, जिससे उन्हें नुकसान पहुंचाने वाला कोई व्यक्ति न अनजाने ही घुस सके। इन सारी सुविधाओं के साथ बुढ़ापा होने पर भी परिधान, मेकअप और परफ्यूम, लिपिस्टिक और हैट की आकर्षक लकदक और लास्य पचहत्तर से आगे की उम्र में भी वैसे ही लहकती-दमकती रहती है, कि बूढ़े होने के बावजूद - वे बूढ़े होने के दु:ख और सामाजिक शोषण से बचे रहते हैं।

कुछ बूढ़े अपने नाती-पोतों के प्यार के कारण अपने घर में ही रहना चाहते हैं तो उनकी सेवा के लिये सरकार-नर्सों को घरों में भेजती हैं जिससे वे परिवार के सदस्यों पर बोझ न बनें और उनके कामकाज में बाधन न आये। इसके साथ-साथ यदि परिवार के सदस्य अपने अवकाश बिताने के लिये एक दो माह के लिये बाहर जाना चाहते हैं तो ऐसे में दो माह के लिये अलग तरह के 'वेकेन्सी वृद्धालय' में उन्हें कर सकते हैं। लेकिन इसके लिये पहले से बुकिंग करवानी पड़ती है और अधिकतम तीन माह के लिये बुकिंग करवा सकते हैं। जहाँ सरकार के कर्मचारी मन-लगन से उनकी सेवा करते हैं वहाँ भी उनका सुविधा सम्पन्न अलग से कमरा होता है जिसमें रसोई, बाथरूम और रूम सर्विस शामिल रहती है।

वृद्धालयों का एक तीसरा स्वरूप भी है जब कोई वृद्ध व्यक्ति घर पर या वृद्धालय के अपने कमरे में अस्वस्थ हो जाता है और बीमार रहता है तो अन्य लोगों को बीमारी न लगे तथा वे उस यातना को न देखें तो वहाँ का प्रशासन वृद्धालय का निर्णायक मंडल अस्पताल में फोन करके एम्बुलेंस बुलाकर उन्हें अस्पताल भिजवाती है और परिवार को भी सूचित कर देती है। वहाँ से चिकित्सा के बाद वे इन चिकित्सकीय वृद्धालयों के कमरों में रखे जाते हैं जहाँ चौबीस घंटे पूर्ण देखभाल होती है। बिस्तर पर ही शौच-स्नान करवाने तक की प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा व्यवस्था उनके व्हील-चेयर पर बैठाकर उन्हें आस-पास घुमाने की व्यवस्था रहती है। प्रत्येक सप्ताह उन्हें चर्च या उनके धार्मिक स्थलों पर ले जाया जाता है। उद्यानों में घुमाने ले जाते हैं, बोटिंग नौका विहार करवाते हैं। प्रति सप्ताहांत पर इन वृद्धालयों में भी सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा मनोरंजन के कार्यक्रम होते हैं। जब तक वृद्धालय अस्पताल केटेगरी के चिकित्सक उन्हें स्वस्थ्य होने का प्रमाण-पत्र नहीं दे देते हैं, उन्हें उनके वृद्धालय कमरे में स्थानान्तरित नहीं किया जाता है। यदि वे बहुत बीमार होते हैं और उन्हें विशेष चिकित्सा की आवश्यकता होती है तो उन्हें अस्पताल के विशेष सेवा वार्ड (स्पेशल केयर वार्ड) में रखा जाता है। बूढ़ों की सेवा ही वहाँ का प्रमुख धर्म है क्योंकि 'सेवा' सभी धर्मों का प्राण है।

वृद्धालय का तीसरा और अंतिम स्वरूप वह है जब कोई वृद्ध व्यक्ति चिकित्सा की सीमा

लांघ जाता है और अब उसके रोग का इलाज नहीं हो सकता है और वह मरना नहीं चाहता है तो ऐसे वृद्ध लोगों को सरकार द्वारा चलाये जा रहे विशिष्ट वृद्ध आवासगृहों में रखा जाता है जहाँ वे सिर्फ मृत्यु की प्रतीक्षा में जीते हैं। जहाँ उनकी आत्मा, देह-त्याग की राह देख रही होती है। वहाँ भी हंसी-खुशी के वातावरण में उनकी सेवा का पूर्ण ख्याल रखा जाता है। इस तरह जीवन-भर देश की और देश की नागरिकों की सेवा करने वाले नागरिकों के बूढ़े होने पर उनके बुढ़ापे की चिन्ता और रख-रखाव, देश के रखवालों और सरकार के द्वारा पूर्णतः सुनिश्चित है। जिसका पूरी निष्ठा और लगन से प्रसन्नतापूर्वक कार्यकर्ताओं द्वारा निर्वाह किया जाता है।

वृद्धालयों में सेवा करने वाले कार्यकर्ताओं की अलग तरह की श्रेणी होती है और इन्हें अलग तरह का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके लिये जिन युवाओं और अन्य लोगों का बौद्धिक स्तर बहुत उन्नत नहीं होता है उन्हें इस तरह के सेवा कार्यों की पुनीत नौकरी मिल जाती है इससे बेरोजगारी का शिकार होने से युवा पीढ़ी का एक वर्ग बच जाता है और बूढ़ों की जिन्दगी भी आनन्द से बीत जाती है।

हर वृद्धालय में सेंटाक्लास आता है सबके लिये तोहफे लाता है। चारों तरफ हंसी-खुशी और आनन्द का वातावरण रहता है। बूढ़े भी अपने सेवकों के हाथ पकड़कर बूढ़े देह से भचकते हुये नाचने-गाने का शोर रचाते हैं। दिन भर खाने-पीने और मनोरंजन की उत्तम व्यवस्था होने से वे अपनी तरह से मन से बुढ़ापा बिसारे रहते हैं। नकली दांतों के भीतर से भी सुख की हंसी दिखायी देती है। सिकुड़ गये ओठों में भी मुस्कराहट खेलती रहती है। बूढ़ी और धुंधली आंखों में भी जीवन जीने की ललक और चमक दमकती रहती है।

वृद्धालयों में रहने वाले बूढ़ों का अपनी वय का एक अलग परिवार-सा बन जाता है। वही उनके स्वजन हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसे कि वे अपने पुराने रिश्ते तक भूल जाते हैं। इसमें वय के कारण स्मृति-भ्रंश भी उन्हें मजबूर करता है। वृद्धालय में रहने वाले बूढ़े भी आपस में एक-दूसरे का ख्याल रखते हैं। डिनर और काफी के लिये एक-दूसरे के कमरे में रोलेटर के सहारे आपस में लेते-बुलाते हुये जाते हैं साथ में बैठकर चेश और ताश खेलते हैं - अपने यहाँ के पुस्तकालयों से पुस्तकें लेकर पढ़ते हैं।

वृद्धालय में रह रहे अपने पारिवारिक व्यक्ति से मिलने जाने वाले लोग सिर्फ अपने माँ, पिता से ही नहीं मिलते हैं बल्कि वह वृद्धालय के बड़े हो चुके और नये बने हुये परिवार के हर सदस्य से मिलता है, सब मिलकर राह तकते हैं। किसी की भी बेटी-बहू और बेटा-दामाद हों, वह सबके परिवार के सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार के सदस्य और दोस्त वगैरह भी सप्ताहांत, त्यौहार और उत्सवों के मौके पर वृद्धालय में सूचित करके उन्हें अपने घर ले जा सकते हैं। जहाँ पहुंचकर वे बहुत ही सुख का अनुभव करते हैं।

वृद्धालयों या सेवालयों में रह रहे वृद्धों के कमरों में उनके परिवार, प्रेमी और मित्रों की फोटो रखी रहती है। ताजा फूलों के गुलदस्तों से कमरा और व्यक्ति दोनों सजे और महकते रहते हैं। अपने ही रचे हुये कमरे में वे परिवार के साथ होने का अहसास जीते रहते हैं और भीतर-ही-भीतर जीने का बहाना खोजकर ताजगी महसूस करते हैं और अपने से प्रेम करने लग जाते हैं। **इस तरह से अपनों की जिन्दगी से दूर होने पर भी अपनी जिन्दगी के पास रहते हैं। दुनिया जिनसे छूट चुकी होती है फिर भी वे दुनिया के भीतर अपने को महसूस करते हैं और यह महसूस करना ही तो जीवन है जो उनके पास शेष है जिसके कारण वे बूढ़े होते हुये भी बुढ़ापे से दूर हैं।**

इन सारी सुखद स्थितियों के बावजूद इन देशों के हर बूढ़े नागरिक की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि इन्हें वृद्धालय की शरण में न जाना पड़े। बुढ़ापे की वय में भी अपने से अधिक बूढ़ों की कष्टसाध्य दिनचर्या से न गुजरना पड़े क्योंकि इन्हें अपने बुढ़ापे के साथ, अपने से अधिक उम्र का बुढ़ापा भी झेलना और जीना पड़ता है जो किसी भी श्मशान घाट में होने से भी अधिक भयानक होता है।■

अपूर्वानंद
दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन, साहित्यिक-सांस्कृतिक आलोचना का लेखन।
सम्पर्क : apoorvanand@kafila.org

गाँधी विचार की विदाई

जनवरी, २०१५ को गाँधी की भारत वापसी की सदी के तौर पर मनाया जा रहा है। लेकिन जनवरी से गांधी का जुड़ाव और भी कई स्तरों पर है। जनवरी में ही गांधी ने अपने जीवन का आखिरी उपवास किया। जनवरी खत्म होने को ही थी कि गाँधी के ज़िंदगी ख़त्म कर दी गई। इसलिए जनवरी गांधी और भारत के बीच के रिश्ते को समझने के लिहाज से महत्वपूर्ण महीना है। इसकी शुरुआत भारत और गांधी के प्रेम प्रसंग के आरंभ से होती है जो बत्तीस साल चलने वाला था। इसका मध्य गांधी के साथ भारत के संघर्ष का समय है। वे अपने ही मुल्क से लड़ रहे थे और हारा हुआ महसूस कर रहे थे। और इसका अंत भारत की गाँधी से निराशा, कम से कम हिंदू भारत के बड़े हिस्से की निराशा की चरम अभिव्यक्ति थी। गांधी उसके लिए गैरज़रूरी ही नहीं हो चुके थे, उनका और जीवित रहना भारत के लिए खतरनाक हो सकता था। इसलिए जब नाथूराम गोडसे ने उन्हें गोली मारकर उनकी इहलीला समाप्त कर दी तो अनेकानेक घरों में चूल्हा नहीं जला लेकिन दूसरी ओर उसके समर्थक संगठन के सदस्यों और समर्थकों ने मिठाइयाँ बांटी और दीवाली मनाई। आज वह संघ भारत की सत्ता पर काबिज है। तो यह मौका है विचार करने का कि क्या अंतिम रूप से गाँधी के विचार को विदाई दे दी गई है।

बारह जनवरी, १९४८ को गांधी ने अपनी शाम की प्रार्थना सभा में अगले दिन से बेमियादी उपवास का ऐलान किया। गाँधी अठहत्तर साल के हो चुके थे। वे उपवासों के माहिर थे और हर बार उनमें से निखरकर निकल आए थे। लेकिन इस थकी देह और उम्र में इस फैसले ने पूरे देश को चिंता और हैरानी में डाल दिया।

> गाँधी अठहत्तर साल के हो चुके थे। वे उपवासों के माहिर थे और हर बार उनमें से निखरकर निकल आए थे। लेकिन इस थकी देह और उम्र में इस फैसले ने पूरे देश को चिंता और हैरानी में डाल दिया।

गांधी की मांग इस बार अपने लोगों से थी। खासकर हिंदुओं से। वे हिंदुओं, सिखों और मुसलामानों के दिलों के मिलने की मांग कर रहे थे।

१९४६-४७ गाँधी ही नहीं देश के सभी नेताओं के लिए बेहद थकान भरे साल थे। आज़ादी करीब आ रही थी। लेकिन यह दो मुल्कों के बनने का वक्त भी था। पूरे देश में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अकल्पनीय हिंसा भड़क उठी थे। दोनों ही अमानवीयता के चरम को छूने को बेताब थे। जिन्ना की सीधी कार्रवाई के ऐलान ने कलकत्ते में कत्लोगारत की शुरुआत कर दी थी। गांधी वहां गए और उपवास पर बैठ गए। सुहरावर्दी, जो हिंसा के प्रतीक थे, आए और माफी माँगी। कलकत्ते में अमन कायम हुआ।

बारह जनवरी को गांधी ने कहा, 'जब मैं नौ सितंबर को कलकत्ते से दिल्ली लौटा तो इरादा पश्चिम पंजाब जाने का था। लेकिन वह न होने को था। खुशदिल दिल्ली मुर्दों का शहर लग रही थी। मैं ट्रेन से जब उतरा तो हर चेहरे पर उदासी पुती थी। सरदार प्लेटफ़ॉर्म पर मौजूद थे। उन्होंने बिना वक्त गँवाए मुझे इस महानगर की गड़बड़ियों के बारे में बताया। मैंने फौरन समझ लिया कि मुझे दिल्ली में ही होना है और करना है या मरना है।'

'फौज और पुलिस की वजह से ऊपरी अमन था लेकिन दिलों में तूफ़ान था। वह कभी भी फूट पड़ सकता था। इससे मेरा करने का संकल्प पूरा नहीं होता था, और वही मुझे मौत से अलग रख सकता था, मौत जो अतुलनीय मित्र है।'

जिस दिल्ली में जाकिर हुसैन इत्मीनान से न चल-फिर सकें, वह उनकी नहीं हो सकती थी। गांधी ने अपने करने को नाकाफी मानकर मौत की तरफ कदम बढ़ाने का फैसला किया। कल तक जो एक थे, वे हिंदू और मुसलमान जब तक उन्हें यकीन न दिला दें कि उन्होंने आपसी रंजिश मिटा दी है और साथ-साथ रहने को तैयार हैं, वे उपवास नहीं तोड़ेंगे।

दिल्ली पाकिस्तान से आए शरणार्थियों से भरी हुई थी। उनके साथ पाकिस्तान में हिंदुओं पर हुए ज़ुल्म की भयानक कहानियां भी आई थीं। यहाँ मुसलमानों पर हमले हो रहे थे, वे अपने इलाकों को छोड़ने को मजबूर थे। मस्जिदों को तोड़ा और मंदिरों में बदला जा रहा था। महरौली के ख्वाजा कुतुबुद्दीन के मजार पर हिन्दुओं का कब्जा हो गया था।

> पूरी दुनिया की निगाहें इस विचित्र उपवास पर लगी थीं। एक सनातनी हिंदू अपने ही धर्मवालों से इस उपवास के जरिए बहस कर रहा था। वह उन्हें अपने हृदय को जाग्रत करने को कह रहा था। यह तकरीबन नामुमकिन माँग थी।

गांधी की मांग थी कि शरणार्थी हिंदू और सिख मुस्लिम घरों और पूजा स्थलों से निकलें। ये पाकिस्तान से अपना सब कुछ खो कर आए थे और यहाँ उनसे जनवरी की कडाके की ठंड को झेलने को कहा जा रहा था। वे गाँधी के उपवास से बेहद नाराज थे। दिल्ली में 'मरता है तो मरने दो' के नारे लग रहे थे। गाँधी अविचलित थे।

वे पाकिस्तान जाना चाहते थे और वहां मुसलमानों को वही कहना चाहते थे जो यहाँ हिन्दुओं को कह रहे थे। आखिर नोआखाली के हमलावर मुसलमानों की नफरत झेलकर भी उन्होंने उन्हें हिंसा के रास्ते से अलग कर लिया था। लेकिन अगर यहाँ मुसलमानों पर हमले होते रहे तो वे किस मुंह से पाकिस्तान जाएं। उन्होंने बँटवारे की वजह से संसाधनों के बँटवारे में भी भारत से इंसाफ और उदारता की माँग की और पाकिस्तान को उसका हिस्सा देने को कहा।

गाँधी के बेटे ने कहा कि वे उपवास करके गलत कर रहे थे। उनके जीवित रहने पर लाखों जानें बच सकती थीं। गाँधी ने बेटे की अपील भी ठुकरा दी।

गाँधी का यह उपवास सत्रह तारीख तक चला। दिल्ली और भारत ही नहीं पूरी दुनिया की निगाहें इस

विचित्र उपवास पर लगी थीं। एक सनातनी हिंदू अपने ही धर्मवालों से इस उपवास के जरिए बहस कर रहा था। वह उन्हें अपने हृदय को जाग्रत करने को कह रहा था। यह तकरीबन नामुमकिन माँग थी।

गाँधी मुसलमानों से किसी भी वफादारी के ऐलान की मांग के खिलाफ थे। जिन मुसलमानों ने यहाँ रहने का फैसला किया था, उन पर शक करना गुनाह था। भारत को धर्म-निरपेक्ष होना था। क्या यह प्रयोग नाकामयाब हो जाएगा? फिर गाँधी के बचे रहने का भी कोई मतलब न था।

सत्रह जनवरी को राजेन्द्र प्रसाद के घर पर करोल बाग़, पहाडगंज, सब्जी मंडी और दूसरे इलाकों के अगुओं की बैठक हुई। शरणार्थी शिविरों के हिन्दुओं और सिखों ने इस वादे पर दस्तखत किए कि वे मुस्लिम मिल्कियत वाली जगहों को और मस्जिदों को खाली कर देंगे।

अठारह की सुबह सब फिर राजेन्द्र प्रसाद के घर इकठ्ठा हुए और दुबारा संकल्प पर गौर किया। फिर सब गांधी के पास पहुँचे। राजेंद्र बाबू ने उनकी ओर से गाँधी को विश्वास दिलाया कि सबने सच्चे हृदय से हिंसा और दुराव ख़त्म करने का निर्णय किया है। महरौली के ख्वाजा का सालाना उर्स भी पहले जैसे ही मिल कर मनाया जाएगा।

अठारह तारीख को भारत में यह अनोखी घटना हुई। साम्प्रदायिक सौहार्द्र का घोषणा-पत्र हिंसा के बीच सबने कबूल किया। गाँधी ने इसके बाद दिन के पौन बजे अपना उपवास तोड़ा।

गाँधी के इस उपवास ने धर्मनिरपेक्ष भारत की नींव रखी। जाहिर है, वे उनकी आंख में सबसे बड़े दुश्मन हुए जो इसे पाकिस्तान की तर्ज पर हिंदू राष्ट्र बनाना चाहते थे। शपथ तोड़ना किसी भी धर्म में पाप माना जाता है। लेकिन उनकी नज़रों में गांधी ने भारत में मुसलमानों की इज्जत, हिफाजत और बराबरी का इंतजाम करके सबसे बड़ा पाप किया था। इसके लिए उन्हें सजा दी जानी ही थी।

उपवास खत्म होने के बाद गाँधी की प्रार्थना सभा पर बम विस्फोट हुए और मदन लाल पहवा नाम का व्यक्ति गिरफ्तार हुआ। नाथूराम गोडसे, जो अपने दल के साथ दिल्ली में डेरा डाले था, इसके बाद यहाँ से निकल गया, लेकिन वह फिर लौटा। तीस जनवरी को वह प्रार्थना सभा की ओर जाते हुए गांधी के आगे रुका, उसने उन्हें प्रणाम किया और फिर उन पर गोलियाँ दाग दीं। ■

गर्भनाल

एक क्लिक पर पूरे अंक एक साथ

www.garbhanal.com

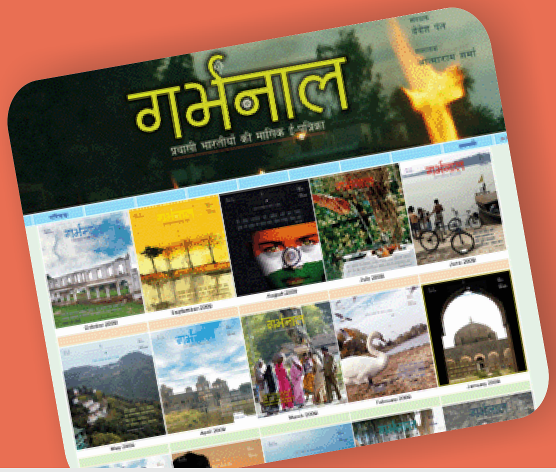

गर्भनाल के पुराने अंक पाएँ

एक साथ एक ही जगह

लॉगऑन करें

www.garbhanal.com

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

garbhanal@ymail.com

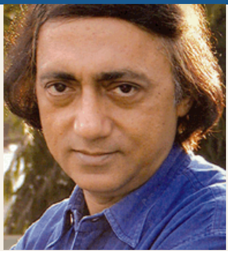

प्रभु जोशी

१२ दिसंबर, १९५० देवास के गाँव पीपलरावां में जन्म। जीवविज्ञान में स्नातक तथा रसायन विज्ञान में स्नातकोत्तर के उपरांत अंग्रेज़ी साहित्य में भी प्रथम श्रेणी में एम.ए., अंग्रेज़ी की कविता स्ट्रक्चरल ग्रामर पर विशेष अध्ययन। पहली कहानी १९७३ में धर्मयुग में प्रकाशित। 'किस हाथ से' लंबी कहानियाँ तथा 'उत्तम पुरुष' कथा संग्रह प्रकाशित। हिंदी दैनिक नईदुनिया के संपादकीय तथा फ़ीचर पृष्ठों का पाँच वर्ष तक संपादन। बचपन से चित्रकारी करते हैं एवं जलरंग में विशेष रुचि। मध्यप्रदेश साहित्य परिषद का कथा-कहानी के लिए अखिल भारतीय सम्मान। साहित्य के लिए गजानन माधव मुक्तिबोध फेलोशिप। संप्रतिः स्वतंत्र लेखन एवं पेंटिंग।

संपर्क : ३०३, गुलमोहर निकेतन, वसंत विहार, इन्दौर। मोबाइल : ०९४२५३-४६३५६ ईमेल : prabhu.joshi@gmail.com

परख

कब होगा, अनादृत का अभिषेक

यह अत्यन्त विचारणीय तथ्य है कि तमाम कलाओं के संदर्भ में आमतौर पर लेकिन चित्रकला के संदर्भ में खासतौर पर, हमारा सामना एक विचित्र विडम्बना से होता है कि भारत को छोड़कर, हम दुनिया के किसी भी अन्य देश में ऐसा दुर्भाग्य पूर्ण उदाहरण बरामद नहीं कर सकते, जहां उन्होंने अपनी परम्परागत चित्र-शैली के साथ इतना और ऐसा अवमाननापूर्ण व्यवहार किया हो। योरपीय कला जगत में, आज उनका रियलिज्म (यथार्थवाद) अभी उतना ही समादृत है, जितना कि उनका माडर्निज्म (आधुनिकतावाद)। कहना न होगा कि 'आधुनिकतावाद' अपनी सम्मानजनक विदाई के बाद आज भी, वहां की कला-पत्रिकाओं के पृष्ठों पर निरन्तर अपने लिये उल्लेखनीय जगह घेरे रहता है। यही कारण है कि वहाँ न तो 'मोनालिसा' को दफन किया गया है और ना ही 'गुएर्निका' को। दोनों ही, अपने-अपने स्तर पर लगभग प्रति वर्ष कला जगत में गहरे और नित नए विमर्शों का केन्द्र बनती रहती हैं। बहरहाल, इसे एक तरह से हमारा अभाग्य ही कहा जाये कि ऐसी स्थिति हमारी कला के बारे में कमाबेश अकल्पनीय ही जान पड़ती है। यदि हम योरप की बात छोड़कर अन्य एशियाई मुल्कों की ओर इस स्थिति को आल-चाल कर के देखें तो पाएँगे कि वहां का समाज अपनी परम्परागत चित्र-शैलियों का अभूतपूर्व सम्मान, संवर्द्धन और संरक्षण करता आ रहा है। चीन, जापान, कोरिया या थोड़ा आगे बढ़कर सुदूर मेक्सिको की तरफ देखें तो वहां भी अपनी परम्परागत शैलियों में रची गई कृतियां केवल संग्रहालयों के ठण्डे अंधेरे भर में उपेक्षा का जीवन जीने का अभिशप्त नहीं कर दी गई हैं, अपितु उन्हें आज की रौशनी में भी देखा जाना बाकायदा जारी है। वे कला-प्रासादों की सम्पदा का हिस्सा नहीं, अलबत्ता सामान्य कला प्रेमियों के स्पंदित आस्वाद का भी अंग है। यह जानकर सचमुच ही एक सुखद विस्मय होता है कि कला के 'समकालीन' मुहावरे में सृजनरत चित्रकारों से कहीं बड़ी बिरादरी इन मुल्कों में अपनी परम्परागत चित्र-शैलियों में काम करने वाले चित्रकारों की मौजूद है और वे अपने कला-बाजार का एक बड़ा हिस्सा तक भी समेटे हुए हैं। कहने की जरूरत नहीं कि बदकिस्मती से भारत में शीत-

युध्दकालीन सांस्कृतिक कूटनीति ने 'आधुनिकतावाद' से सम्मोहित ऐसे कलाकार और कला-मीमांसकों की अच्छी खासी बड़ी बिरादरी पैदा कर दी, जिसने भारत की सुदीर्घ कला-परम्परा के ध्वंस में संगठित रूप से काम किया। यहां याद करना रुचिकर होगा कि जब भारत स्वाधीन हुआ और नेहरू ने एक 'आधुनिक' भारत के निर्माण की राजनीतिक प्रतिज्ञा व्यक्त की तो सबसे पहले 'आधुनिकतावाद' का वर्चस्व साहित्य के बजाय चित्रकला में ही बढ़ा। वहां, कलाकारों को 'परम्परा' के स्वाहा में ही 'आधुनिकता' के अभीष्ट की प्राप्ति का ज्ञानबोध हुआ। अलबत्ता आधुनिकता के प्रस्तावित मार्ग पर परम्परा को खतरे के निशान के रूप में ही चिन्हित किया गया। उसे इतिहास की जीर्ण परछी में बांधकर पोटली की तरह हमेशा के लिए अवमानना के तलघरों में उतार दिया गया। यह उस दौर की एक बेलिहाज सच्चाई भी है कि आधुनिकतावाद को लगभग एक धमकी की तरह इस्तेमाल किया जाने लगा। जैसे कि उसकी स्वीकृति के अभाव में कोई कलाकार अब कलाकार ही नहीं माना जायेगा। यह निरस्तीकरण के भय के गर्भ से पैदा हुआ एक ऐसा सफल और अप्रकट नियंत्रण बना, जिसने अंततः परम्परा के 'दमन' का रूप ले लिया। अच्छे भले तथा परम्परागत-शैली के दक्ष

इतना 'चंचला' नहीं बनाया जा सकता, अन्यथा वह 'मौद्रिक' रूप धारण कर लेगी। और मुद्रा का रूप धारण करते ही वह कला के नियम और नैतिकताओं को त्याग कर बाजार के साथ हो लेगी। अब यह सर्वविदित है कि कला अपनी इसी चंचला वृत्ति को अपनाते ही अब एक निवेश बन चुकी हैं।

अब हम पुनः अपनी उसी बात पर लौटें। निश्चय ही चित्रकला में तीव्र प्रविधिजन्य-परिवर्तन 'अमूर्तन' के आग्रह के चलते आया। 'अमूर्तन' ने कला में केवल मटेरियल इफैक्ट या कहें कि कला-सामग्री के प्रभाव-वैचित्र्य को ही कला के प्रमुख प्रतिमान का पर्याय बना दिया। परिणाम स्वरूप, जो कोई भी चित्रकर्मी कुछ तो भी उटपटांग करने लगता और कला आलोचक उसके काम की आलोचना के बजाय स्वागत करने लगे। हुआ यहां तक कि स्वागत न करने पर आलोचक स्वयं के संदिग्ध होने से डरने लगा। प्रशंसा करना उसकी नैतिक बाध्यता बनने लगी।

अगर हम स्वाधीनता के कुछेक दशक पूर्व और पश्चात् की कला विवेचनों को देखें तो वहां हमें अपनी 'समझ के अहम् से सुलगती' समीक्षाओं ने परम्परा से लगभग प्रतिशोध के स्तर पर मुठभेडें लेते हुए, भारतीय सौन्दर्य दृष्टि को खारिज करते हुए, उसे हाशिये पर धकेलना शुरू कर दिया था। जो 'क्लैसिकल' था, उसे अतीत का उच्छिष्ट बताया जाने लगा। एक घटिया आयातित और फूहड कला-चेष्टा को खासतौर पर स्वतंत्रता के पश्चात सर्वाधिक महिमा-मंडित किया जाने लगा। धीरे-धीरे शीतयुध्दकालीन दैत्याकार दारुणताओं ने सुंदर की संभावना का संहार कर डाला।

आज तो स्थिति इतनी हास्यास्पद हो गई है कि जिसके पास चित्रकर्म को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सामग्री खरीद सकने की क्षमता भर है तो समझ लीजिए, उसके आधुनिक कलाकार हो जाने की सौ प्रतिशत सहज संभावना है। आप तब तो और हतप्रभ रह जायेगें, जब देखेगें कि जिसके पास ब्रश को स्याही में डुबोकर एक सीधी सरल रेखा खींचने तक का मामूली कौशल नहीं है, वह शताब्दियों के संघर्ष से अर्जित कला-परम्परा को खारिज करने में क्षण के शतांश का भी विलम्ब नहीं लगाता।

बहरहाल, अब यहां एक सहज प्रश्न उठता है कि अतंतः परम्परागत चित्रशैलियों की ऐसी जघन्य दुरगत की वजहें क्या हैं? दरअसल हकीकत ये है कि हमारे यहां चित्रकला पर

सर्जक, अपने 'स्वत्व' को खोकर इस 'आधुनिकतावाद' के अधीन हो गए, जिसमें 'अमूर्तन' का आतंक समाहित था। दिलचस्प स्थिति तो यह थी कि लगे हाथ भारत में ऐसे मौलिक कला-विचारकों का उदय होने लगा, जिसे वे शैलीगत 'अमूर्तन' का उत्स भारत में ही सदियों से देखने और बताने लगे। यह पराधीनता के उस उपनिवेशित दिमाग का ही प्रमाण था, जिसके चलते प्रकारान्तर से उनके 'आविष्कृत' की हमारे यहां निर्विघ्न स्वीकृति बनाने में वे जी-जान से जुट गये। हालांकि, यह काम अभी भी और उसी तरह ही जारी भी है।

कहना न होगा कि कला में 'आधुनिकतावाद' के वर्चस्व के चलते 'अमूर्तन' के अनुकरण का ही यह परिणाम रहा कि हमारे यहां चित्रकारों ने अपनी ऐतिहासिक और सुदीर्घ कला परम्परा से यथाशीघ्र मुक्ति ठीक इस तरह ले ली, जैसे कि छिपकली संकट के क्षणों में अपनी पूंछ से मुक्ति पा लेती है। वे यह शाश्वत सत्य बिसरा बैठे कि 'कलासत्य' अपनी अभिव्यक्ति की अमोघता के लिए 'निष्ठा' की गहराई चाहता है। परन्तु वस्तुतः वे तर्कों के तीर्थाटन से आधुनिकता का पुण्य स्नान करने में जुटे हुए थे। जबकि, देखा जाये तो 'कण्टेट' नहीं केवल 'फार्म' के सहारे ही उन्हें परम्परा को निरस्त करना था। नतीजतन, चित्रकला को बार-बार अपना 'रूप' बदलने के लिए आक्रामक ढंग से अभिशप्त कर दिया गया। 'फार्म' के स्तर पर अभी तक इतने तीव्र और अराजक परिवर्तन सिर्फ चित्रकला में ही देखे गये। साहित्य या अन्य कलानुशासनों में नहीं। निर्विवाद रूप से ये परिवर्तन तात्कालिकता के दबाब से ही बने, जो 'आन्तरिक' नहीं होती बल्कि हमेशा बाहर से ही लाद दी जाती है।

बहरहाल, आप हम सब जो लोग सृजन से थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखते हैं, वे कहीं बेहतर जानते हैं कि आदर्श स्थिति यही होती है कि कला 'तात्कालिकता' के समक्ष कहीं अपना सर्वस्व ही समर्पित न कर बैठे। ऐसे समर्पण से इनकार का अर्थ 'शाश्वतता' से है और शाश्वता, पूंजी के प्रवाह में विघ्न की तरह पहचानी जाती है। क्योंकि पूंजी की प्रकृति ही यही है कि वह चंचल से साहचर्य बनाती है। कहना न होगा कि कला को

बोलने-बतियाने का काम खुद कलाकारों की जमात ने कम ही किया। इसके विपरीत बढ़-चढ़कर बोलने वाले स्वनियुक्त नान आर्टिस्ट ही अधिक रहे। उनमें अधिकांश तो वे लोग थे, जिन्होंने जीवन में कभी ब्रश भी नहीं उठाया होगा। वास्तव में, वे अपनी भाषा की पूंजी के सहारे जो शब्द-निवेश कर रहे थे, वही कला-समीक्षा का पर्याय बनता रहा था। उनमें कला की अव्यावसायिकता की शून्य-समझ थी। ओर जहां तक कलाकारों का प्रश्न है, एक ईमानदार और सही अर्थों में अपनी साधना को समर्पित कलाकार को तो स्वयं को अपने कलाकर्म में इस हद तक जोते रखना पड़ता था कि उसके पास अपने 'रचे हुए' से ही सिर उठाकर बाहर देखने का अपेक्षित अवकाश ही नहीं था। हम यदि कलकत्ता जाकर सन् १९२८ से १९४० तक 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित तत्कालीन कला-समीक्षाओं के पृष्ठों को खंगालें तो वहां हमें शायद ही किसी तत्कालीन चित्रकार का चित्रकला पर कोई लेख मिलेगा। हां, बाद में जो कलाकारों की पीढ़ी आयी उनमें सूजा जैसे कुछेक और चित्रकार भी मिलते हैं, जो बोलने-लिखने में सक्षम रहे। लेकिन, ऐसे वाक्विद कलाकार की कला की सारी महानता या उत्कृष्टता सिर्फ उनके द्वारा बोले गये में ही थी- जबकि, कैनवास पर वे अपनी पंगु कृतियों के साथ थे। केवल भाषा ही उनके गिरिवर गहन के शिखर की ओर ले जाती जान पड़ती है। उनका काम न तो पश्चिम में कोई भी उल्लेखनीय स्वीकृति नहीं बना पाया। सिर्फ यहां ही तो वे दीर्घाओं और कला के धंधे में धुत लोगों के बलबूते ही महान बने रहे और बने हुए हैं।

देखा जाये तो भारत को यदि अपनी 'आधुनिकता' ईजाद करना थी तो तब इस सदी के पूर्वाध्द में एक खिड़की खुल रही थी। वह पगडंडी थी, जो अपने विकास में विस्तृत मार्ग का रूप ले सकती थी। आजादी के बाद वही एक वृहद् संभावना थी। यह था भारतीय कला-क्षितिज पर अमृता शेरगिल का उदय। जब अमृता शेरगिल आयीं तो वह भारतीय कला में 'कृति' के भीतर के संरचनागत परिवर्तन का आरंभिक काल बनता है। यही वह समय था, जबकि प्रीतिकर चुनौती के बढ़ने की ईमानदार कोशिश अपने होने के निकट थी। उसमें परम्परा के प्रति वैमनस्य की प्रतीति नहीं हो रही थी, बल्कि पुरानी की उपस्थिति पर कृतज्ञता व्यक्त हो रही थी। तब पश्चिम प्रेरित नये ने यथोचित जगह नहीं घेरी या बनायी थी। एक धुंध थी, रचनात्मक छटपटाहट थी और अनेकानेक अनुत्तरित प्रश्न थे,

जिनके अकाटय उत्तर 'कृति' के रूप में कैनवास पर लिखे और दिये जाने थे। अमृता को कदाचित् इस बात का पुख्ता यकीन भी था कि रास्ता कठिन अवश्य है, पर वह निकल जरूर जायेगा।

अपनी पश्चिम की पृष्ठभूमि को लांघकर आई अमृता शेरगिल संभवतः भारतीय कला की उस कालावधि में प्रकट होने वाली पहली ऐसी और एकमात्र चित्रकार थीं, जो अपनी कला के पक्ष में रंग और शब्द, दोनों के ही सहारे यथोचित बहस कर सकती थीं तथा योरपीय कला जगत से छन-छन कर आने वाली प्रवृत्तियों से निर्भीकता के साथ रूबरू हो सकती थीं। क्योंकि वे वहां के कला आंदोलनों की हलचलों की साक्षी थीं और हकीकतों को खंगाल चुकी थीं। इसलिए उन्होंने पश्चिम से लौट कर 'भारतीय कला' को लेकर उठाये जाते रहे पुराने प्रश्नों के ज्यादह तर्कपूर्ण उत्तर अपनी रचनात्मकता के रूप में दिये। मसलन, कम्पोजिशंस में उन्होंने सूक्ष्म संरचनागत परिवर्तन पैदा किये तथा भारतीय स्त्री की एक नई 'देहाकृति' आविष्कृत की। उसमें पश्चिम से उत्पन्न खतरों से बचा गया और स्थानीय परम्परा के कुशल दोहन की संभावताएं ढूंढीं। उन्होंने अजन्ता एलोरा की गुफाओं में पाषाण और भित्तिचित्रों में अंकित स्त्री देह तथा भारतीय मूर्तिशास्त्र के प्रातिनिधिक प्रारूपों के अन्तर्ग्रथन से अपने चित्रफलक पर एक नये देह-विन्यास को मूर्त किया, जिसने योरपीय कला जगत को कतिपय विलम्ब से ही सही, तनिक सराहना और स्वीकृति के लिए आगे आना ही पड़ा। जो संरचनागत प्रमाणीकरण उन्होंने अपनी कृति के रचाव में पैदा

© ADAGP, Paris, 2009

और प्रस्तुत किया, वह ऐसी दैहिकता थी, जो एनाटमी के यथार्थवादी सांचे की शिष्ट अवमानना करती रही है। उन्होंने पिकासो की तर्ज पर 'विरूपन' या 'विकृति' को आधार नहीं बनाया, बल्कि यह अपनी मेधा से सिध्द किया कि भारतीय चित्र दृष्टि का असली मर्म 'देखने' भर में नहीं, अपितु देख चुकने के पश्चात् उसकी ऐन्द्रिकता को सात्विकता के साथ नाथने में भी है। मैं उनकी देहाकृतियों को विवेचित करने के लिए एक शब्द का उपयोग करना चाहूँगा - मेटाफिजिकल-सेंसुअसनेस। भारतीय चित्रशैलियों पर चित्रित या उत्कीर्ण स्त्रीदेह में यही विशिष्टता समाहित है। उदाहरण के लिए यदि आप पश्चिम की यथार्थवादी शैली में चित्रित निवर्सनाओं को देखें तो लगता है, गालिबन वह जीवन से सीधी धड़धड़ाती, अपने वस्त्र उतारकर फेंकती हुई चित्र फलक पर आ उतरी हैं। उनकी देह के चप्पे-चप्पे से लगता है कि वे अपनी 'दैहिकता' से उद्विग्न और अशांत हैं और दूसरी देह के लिए आकुल। जबकि भारतीय परम्परागत चित्रशैली या मूर्तिशिल्प की स्त्रियां ऐसी लगती हैं, जैसे कि वे अपनी दैहिकता को भूल कर, कहीं खोई हुई हैं- अपने में या अपने अतीत में। आत्मलीन, आत्ममुग्ध या कि आत्म-विस्मृत। वे बाहर नहीं झांकती। आनन्द में उन्मीलित हैं, उनकी आंख। थोड़ा-सा इस बात को और अधिक सरल किया जाये। उदाहरण के लिए आप योरपीय निर्वसनाओं को देखें तो उनमें 'दैहिकता' की भौतिकता का बोध अधिक पैदा होता है। हालांकि, वे कागज और कैनवास पर तैलरंग में बनी हैं, लेकिन 'मोनालिसा' या टिशियन की कोई निर्वसना को देखें तो उसको देख कर लगता है कि यदि उसके पांव के नीचे वजन नापने की मशीन रख दी जाये तो उसका कांटा भरभराता हुआ सत्तर-पिचहत्तर किलो के आसपास पहुँच जायेगा, लेकिन आप खजुराहो की मूर्तियों में उनके नितम्ब काफी भारी हैं, उरोजों के आकार भी बड़े हैं, फिर माध्यम भी पत्थर है, बावजूद इसके लगता है कि यदि वे मंदिर के शिखर से गिरीं तो न्यूटन के सेब की तरह जमीन पर नहीं गिरेगी, बल्कि आकाश में उड़ जायेंगी।

बहरहाल ऐसी अनुभूति क्यों होती है? वह इसलिए कि पत्थर के सारे पत्थरपन को उलीचकर, कलाकार की छैनी ने उसे धरती और आकाश के बीच की नागरिकता दे दी। वह कुछ-कुछ धरती की और कुछ-कुछ आकाश की है, यही वह चित्रण या उत्कीर्णन की विशिष्टता है, जो भारतीय कला दृष्टि को भिन्नता देती है। क्योंकि, पत्थर या चित्र में हमारे यहां स्त्री देह सीधी-सीधी नहीं आई है। दरअस्ल, वह साहित्य में समाहित होकर कला में पुनर्प्रकट हुई है। इसलिए वह तूलिका से चित्रित या छैनी से तराशी हुई देह नहीं है, अपितु काव्य-शब्द में आपादमस्तक लथपथ देह है। उसमें स्थूल ऐन्द्रिकता नहीं, एक किस्म की 'मेटाफिजिकल सेंसुअसनेस' है। हिन्दी में शब्द गढ़ कर कहा जाये तो 'ऐन्द्रिय-आध्यात्मिक'। ठीक ऐसे ही संस्कृत में ऐसी मनुष्य के लिए अलभ्य देह को 'चिन्तामणि' देह भी कहा जाता रहा है, जिसे पाकर भी अप्राप्यता का बोध मिटता नहीं है। इसी प्रकार ही स्थल के लिए एक शब्द है, 'अगम्यागमन'। जहां हम कभी नहीं जा सकते और फिर भी जाते रहते हैं। क्या सूजा की निहायत ही फूहड और भदेस निवर्सनाओं को 'भारतीय कला दृष्टि' की अप्रतिम उपलब्धि की तरह अभिनंदनीय बनाया जाना चाहिये? कला की सीमित समझ के डोबने में डुबकी लगा कर, अतल के आकलन का दंभपूर्ण दावा करने की लत हमारी कला आलोचना की अभूतपूर्व अर्हता है। इसी के चलते जब कला में 'आधुनिकता से उपजे अमूर्तन' के होहल्ले में उलटफेर हुआ, तब उससे साहस के साथ रूबरू हो सकने वाले कला-पारखियों ने मौनव्रत धारण किये रखा। अमृता शेरगिल की रचनात्मकता को अपने समकाल की कला के संकट के समाधान की तरह देखा जाना चाहिये। दरअसल, वह कैनवास पर उनके चिंतन की धीमी आँच पर तपते पश्चिम से लिये जाने वाले रचनात्मक प्रतिशोध की पटकथा थी, जिसमें वे पिकासो को कुछ ठीक-ठीक से उत्तर दे रही थीं। कहने की जरूरत नहीं कि 'अपने रचे हुए' में निरन्तर परिवर्तन और परिमार्जन की लम्बी श्रृंखला से गुजर कर बनाई उनकी कृतियां, यही प्रमाणित करती हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हम अपनी कला परम्परा की खोई हुई पहचान को पुनराविष्कृत करते हुए, तथाकथित ग्लोबल के सच्चे प्रतिरोध का कोई प्रतिमान गढ़ सकते हैं? कि हम बस भूमण्डलीकृत बाजार के बाजे में फूंक कर मार-मार कर अपनी उधारी की तुतही से उनके सुर में सुर मिलाते रहने को 'ये तो होना ही है' की-सी अनिवार्य नियति को स्वीकार लेगें।■

उदयन वाजपेयी

जन्म १९६० सागर, मध्यप्रदेश। चर्चित कवि-कहानीकार। कहानी संग्रह- सुदेशना, दूर देश की गन्ध, कविता संग्रह- कुछ वाक्य, पागल गणितज्ञ की कविताएँ, एक निबन्ध संग्रह, फिल्मकार मणिकौल के साथ उनके सम्वाद की पुस्तक 'अभेद आकाश' प्रकाशित।. कृतियों का तमिल, बंगाली, मराठी, फ्राँसीसी, पोलिश, बुल्गारियायी, स्वीडिश, अँग्रेजी आदि में अनुवाद। कृष्ण बलदेव वैद फैलोशिप और रज़ा फाउण्डेशन पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : एफ-९०/४५, तुलसीनगर, भोपाल-४६२००३ ई-मेल : udayanvajpeyi@gmail.com

नजरिया

चित्रकला और समता का विचार

इस बार हम एक बार फिर कीर्तिगान करेंगे। कीर्तिगान करते रहने से एक लाभ निश्चय ही है : हम अपने से बड़े व्यक्ति की उपस्थिति के प्रति सजग होते हैं और इस तरह अपने कद के छोटे होने को कहीं अधिक गहरायी से पहचानने लगते हैं। इसलिए कीर्तिगान करते रहने से हम अपनी असली अवस्थिति के प्रति सजग होते रहते हैं। इससे बेहतर और क्या हो सकता है कि हम यह जानें कि इस सकल जगत में हमारा क्या स्थान है, हम कहाँ खड़े हैं। अपने कद को लगातार रेखांकित करने के ख़ातिर हम इस स्तम्भ में गाहे-बगाहे कीर्तिगान करते रहेंगे।

इस बार हम एक ऐसे शख़्स का कीर्तिगान करने जा रहे हैं जिसे जानते तो बहुत से लोग हैं, पर जिसके योगदान की सचाई को कम लोगों ने ही समझा है। इस शख़्स को अपने जीवनकाल में पर्याप्त विवादों से घिरे रहना पड़ा जो स्वाभाविक भी है : जो भी शख़्स ऐसा कुछ करने की कोशिश करता है जिसका अनुमान भद्रलोक लगा नहीं पाता उस पर तरह-तरह के प्रश्न उठाये जाते हैं। अंततः इस किस्म के प्रश्नकर्ता उस शख़्स के कर्म को पुष्ट ही करते हैं, उसे कमजोर नहीं।

जगदीश स्वामीनाथन को गये कई बरस बीत गये हैं। कई बरस हुए जब उन्होंने भोपाल में भारत भवन की रूपंकर दीर्घा का संयोजन किया था। यह सच है कि आज इन दीर्घाओं को देखने हर रोज सैकड़ों लोग जाते हैं और कहीं न कहीं उनसे प्रभावित भी होते हैं पर यह भी सच है कि इन दीर्घाओं के पीछे छिपे विचार को कम लोग ही अनुभव कर पाते हैं। जगदीश स्वामीनाथन देश के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के श्रेष्ठतम चित्रकारों में एक माने जाते हैं। पदमभूषण प्राप्त चित्रकार रामकुमार ने एक बार लिखा था कि बीसवीं शताब्दी में तीन ही ऐसे चित्रकार भारत में हुए हैं जिन्होंने भारतीय चित्रकला को मूलभूत स्तर पर प्रभावित किया है। ये चित्रकार हैं अमृता शेरगिल, मकबूल फिदा हुसैन और जगदीश स्वामीनाथन। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि चित्रकार रामकुमार जगदीश स्वामीनाथन से उम्र में बड़े थे और उतनी ही ख्याति प्राप्त थे, जितने जगदीश स्वामीनाथन। अपने चित्रों की देशज परम्परा खोजते-खोजते जगदीश स्वामीनाथन भारतीय लघुचित्रों और आदिवासी चित्रों की ओर गये। उन्हें यह बात गहरे तक परेशान करती रही कि भारत जैसे देश में जहाँ चित्रकला की समृद्ध परम्परा रही है, चित्रकला को नापने के आधार पूरी तरह से पश्चिमी है। इसका कारण अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित चित्रकला के शिक्षण संस्थान हैं। हम पश्चिमी दृष्टि से ही चित्रकला को देखने अभिशप्त हो चुके थे। इससे बाहर निकलने का मार्ग खोजने का दायित्व जिन

कलाकारों ने अपने कन्धे पर लिया, जगदीश स्वामीनाथन उनमें सर्वोपरि थे। उन्होंने अपने चित्रों और लेखों में चित्रकला के पश्चिमी आधारों की गहरी आलोचना प्रस्तुत की और अपनी चित्रकला परम्परा से जुड़ने का गहन प्रयास किया। वे देश के सुदूर अंचलों में जाकर यहाँ की पारम्परिक कला का अवलोकन करते रहे, उसके आध्यात्मिक और ऐन्द्रिक आशयों को गहरायी से समझने का प्रयत्न करते रहे। इसी दौरान उन्होंने मध्यप्रदेश के आदिवासी अंचलों का भी दौरा किया और उनकी चित्रकला को देखा-परखा। वे इस सब के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रेष्ठ कला जरूरी नहीं ऐसे ही समाजों में उत्पन्न हो जो तकनीकी रूप से उच्चतर स्तर पर पहुँच गये हों। श्रेष्ठ कला का जन्म तकनीकी रूप से साधारण समाज में भी हो सकता है। हुआ है। उन्होंने यह देखा कि औद्योगिक क्रांति से अछूते समाजों की कला भी उतनी ही परिष्कृत है जितनी उसके बाद की। दूसरे शब्दों में कला को देखने का आधार उन समाजों के विकास का स्तर नहीं होना चाहिए जहाँ वे उत्पन्न हुई हैं। कालिदास अगर तकनीकी रूप से अपेक्षाकृत अविकसित समाज में उत्पन्न हुए तो इससे उनकी कला की श्रेष्ठता पर कोई असर नहीं पड़ता। यही बात आदिवासी चित्रों के लिए भी सही है। वे भले ही ऐसे सम्प्रदायों द्वारा रचे गये हैं जो तकनीकी रूप से अपेक्षाकृत साधारण हैं पर इससे उनका कलात्मक परिष्कार कम नहीं हो जाता।

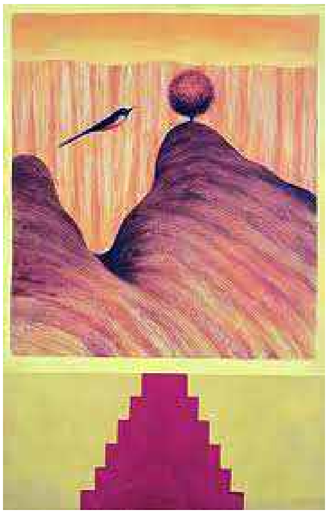

जगदीश स्वामीनाथन चाहते थे कि आधुनिक चित्रकला और आदिवासी व लोकचित्रकला साथ-साथ प्रदर्शित हों, यानी वे एक-दूसरे के बगल में प्रदर्शित हों। इससे यह विचार प्रकट होता कि दोनों ही ढंग की चित्र शैलियाँ एक ही ज़माने की हैं। समकालीन हैं। पर ऐसा हो नहीं सका। उन्हें स्वामीनाथन को दो अलग दीर्घाओं में प्रदर्शित करना पड़ा, लेकिन तब भी वे इस विचार को रेखांकित कर सके कि भले ही आदिवासी समाजों और नागर समाजों के रहन-सहन में बहुत फर्क है पर इन दोनों जगहों में उत्पन्न होने वाली कलाएँ एक-दूसरे की सहचर हैं। स्वामी के इस विचार में एक और विचार शामिल है कि कैसा भी जीवन जीते हुए मनुष्य कला जैसा श्रेष्ठ कर्म करने में सक्षम हो सकता है। यह समता का एक नया विचार था जिसे भारत भवन की रूपंकर दीर्घाओं के सहारे जगदीश स्वामीनाथन ने संसार के सामने रखा था। यह विचार किस हद तक हमारी योजनाकारों के मानस में जगह पा सका, कहा नहीं जा सकता। पर हमें निरन्तर उस विचार को याद करते रहना चाहिए। संसार में अलग-अलग समुदाय अलग-अलग तरह से जीवन बिताते हैं। कोई भी जीवन पद्वति किसी भी दूसरी जीवन पद्धति से श्रेष्ठ नहीं है। हर जीवन पद्धति में मनुष्य को कला जैसे ऊँचे आध्यात्मिक मूल्य हासिल करने का अवसर होता है। हमें यह कोशिश नहीं करनी चाहिए कि अपने तरह से जीवन जी रहे किन्हीं भी समुदायों को आधुनिक ढंग से जीवन बिताने पर मजबूर करें क्योंकि अगर वे बिना आधुनिक हुए भी अच्छे चित्र बना सकते हैं या अच्छे गीत गा सकते हैं या अच्छा नृत्य कर सकते हैं तो यह काफी है। ■

ध्रुव शुक्ल

११ मार्च १९५३ को सागर में जन्म। कवि-कथाकार के तौर पर पहचान। 'उसी शहर में' और 'अमर टॉकीज' उपन्यास, 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी', 'एक बूँद का बादल', 'हम ही हममें खेलें' कविता संग्रह, 'हिचकी' कहानी संग्रह प्रकाशित। राष्ट्रपति द्वारा कथा एवार्ड और कला परिषद् के रज़ा पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क : एम.आई.जी.-५४, कान्हा कुँज, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.) ईमेल - kavi.dhruva@gmail.com

बचपन के एक निबन्ध के बहाने

अगर मैं इस देश का प्रधानमंत्री होता

कुछ ऐसे निबन्ध हैं, जिन्हें मुझसे लिखने को भी कहा गया और मैंने नहीं लिखे। किसी के कहने से कोई क्यों लिखे। स्कूली दिनों में अक्सर एक निबन्ध लिखने को कहा जाता था - 'अगर मैं इस देश का प्रधानमंत्री होता।' - जो अब नहीं कहा जाता। क्योंकि अब निबन्ध लिखने की जरूरत नहीं, अब तो हर कोई प्रधान मंत्री बनने पर ही आमादा है।

मास्साब यह निबन्ध कॉपी में लिखवा देते तो जाहिर है कि सबका निबन्ध एक जैसा ही होता। सब बच्चे उसे ही रट लेते। उस समय हमने कवि रघुवीर सहाय की यह कविता नहीं पढ़ी थी कि - 'अगर कही मैं तोता होता, तो क्या होता, तोता होता।'

यह निबन्ध मुझे कभी ठीक से याद नहीं हुआ। मास्साब साल भर याद दिलाते कि यह परीक्षा में ज़रूर पूछा जाएगा। निबन्ध तो गाँवों के मेलों पर भी पूछे जाते थे। पर वे किस गाँव के मेले पर पूछ लिये जायें, मास्साब भी नहीं जान सकते थे। मैं तो खूब मेले देखता और मुझे यह भरोसा था कि दो मेलों के अनुभव अगर आपस में मिल भी जायें तो एक अच्छा निबन्ध लिखा जा सकता है। पर दो प्रधानमंत्रियों को मिलाकर एक प्रधानमंत्री नहीं बनाया जा सकता। निबन्ध लिखना तो दूर, अब एक प्रधानमंत्री को प्रधानमंत्री बनाए रखना टेढ़ी खीर है। वैसे भी जो मज़ा मेला देखने में है, वो प्रधानमंत्री बनने में कहाँ। प्रधानमंत्री बनते ही लोग गाँवों के मेलों को भूलने लगते हैं।

> "अगर मैं इस देश का प्रधानमंत्री होता तो सबसे पहले पूरे देश को खाली करवाता। फिर उसमें झाड़ू लगवाता। पूरी सफाई करवाने के बाद चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें उठवाता। भीतर आने के लिए सिर्फ़ एक ही दरवाजा रखता। फिर दरवाज़े पर खड़ा होकर अपनी पसन्द के लोगों को देश के भीतर आने देता। बाकी सबको समुद्र में धकेल देता।"

मेरे कई दोस्तों ने मास्साब का लिखवाया निबन्ध भूल जाने पर 'लीडर' फिल्म की स्टोरी लिखकर भी काम चलाया है। कई दोस्तों ने मास्साब के बताए रास्ते से

मास्साब ने उसे ढपला दिया। वे जीरो को ढपला कहते थे। ढपला एक साज का नाम है, जिसे बाँस की दो पंचटों से बजाया जाता है - ढपर ढप ढप, ढपर ढप ढप। मास्साब ढपला देकर ढपला बजाते भी थे। वे पिटाई को ढपला बजाना कहते थे। बात भी सही है कि प्रधानमंत्री होने के बारे में हवाई बातें शोभा नहीं देतीं। लोग मज़ाक उड़ाते हैं, कार्टून बनाते हैं। जनता भी मास्साब की तरह ढपला बजाने के मूड में आ जाती है।

हटकर अपनी निबन्धकार प्रतिभा का परिचय देना चाहा तो मास्साब ने उनकी प्रतिभा के नम्बर काट लिए। मेरे एक दोस्त ने लिखा कि - अगर मैं इस देश का प्रधानमंत्री होता तो सबसे पहले पूरे देश को खाली करवाता। फिर उसमें झाड़ू लगवाता। पूरी सफाई करवाने के बाद चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें उठवाता। भीतर आने के लिए सिर्फ़ एक ही दरवाजा रखता। फिर दरवाज़े पर खड़ा होकर अपनी पसन्द के लोगों को देश के भीतर आने देता। बाकी सबको समुद्र में धकेल देता।

मास्साब ने उसे ढपला दिया। वे जीरो को ढपला कहते थे। ढपला एक साज का नाम है, जिसे बाँस की दो पंचटों से बजाया जाता है - ढपर ढप ढप, ढपर ढप ढप। मास्साब ढपला देकर ढपला बजाते भी थे। वे पिटाई को ढपला बजाना कहते थे। बात भी सही है कि प्रधानमंत्री होने के बारे में हवाई बातें शोभा नहीं देतीं। लोग मज़ाक उड़ाते हैं, कार्टून बनाते हैं। जनता भी मास्साब की तरह ढपला बजाने के मूड में आ जाती है।

दूसरे विषयों पर निबन्ध लिखते हुए कपोल-कल्पनाओं की छूट ली जा सकती है। पर प्रधानमंत्री होने के विषय पर यह छूट मिलने वाली नहीं। कुछ दोस्त तो अधिक नम्बर पाने की लालच में यह भी लिख आते कि - अगर मैं देश का प्रधानमंत्री होता, तो अपने मास्साब को हेड मास्साब बना देता।

कल्पनाएँ तो सब करते। पर उनमें एक बात समान रूप से प्रकट होती। और वह थी पण्डित जवाहरलाल नेहरू की छबि। स्कूल में हर साल विविध वेषभूषा प्रतियोगिता होती थी। सब लड़के नेहरू बनने की सोचते, जबकि पाठ गांधी बन जाने का पढ़ाया जाता। पाठ क्या, एक कविता थी जो बालभारती के सबसे पीछे के पन्ने पर छपी रहती। गांधी बनने के लिए कड़कती ठण्ड में एक धोती से काम चलाना पड़ता था। नेहरू बनना आसान था। सबकी नज़र शेरवानी और चूड़ीदार पायजामें पर रहती।

नेहरूजी की मृत्यु की खबर सबसे पहले मैंने ही पिताजी को दी थी। उन्हें दिल का दौरा पड़ा था। पिता कहा करते नेहरू का दिल बहुत बड़ा है और मैं सोचा करता कि जिसका दिल बड़ा होता होगा उसे ही तो दिल का दौरा पड़ता होगा। रेडियो पर शोकधुन गूँज रही थी। ऐसे मौकों पर रेडियो अकेला हो जाता है। पिता जी खबर सुनते ही घर से बाहर निकल पड़े।

जब कोई सगा संबंधी गुजर जाता है तो पड़ौसी और रिश्तेदार घर बैठने आ जाते हैं। पर जब कोई नायक बिछुड़ता है तो लोग घर से बाहर निकल पड़ते हैं। कोई किसी के घर सान्त्वना देने नहीं जाता। पता नहीं, ऐसा क्यों होता है। जब गांधी जी का देहान्त हुआ, उस समय दादी शाम का खाना बना रही थी। खबर सुनते ही चूल्हे में अधजली लकड़ियाँ निकालकर बुझा दीं। फिर खाना बनाने का मन नहीं हुआ।

ये प्रधानमंत्रियों के बीच में राष्ट्रपिता कहाँ से आ गये। राष्ट्रपिता इस निबन्ध का विषय नहीं है। अब तो गांधी मार्ग से हटकर भी प्रधानतंत्री बन जाना सम्भव हो गया है। ख़ैर जो भी हो, इस विषय पर सोचने वाले की नियति है कि उसे पागल माना जाएगा। वर्षों पुराना एक चुटकुला पागलों के बारे में आज भी चटखारे लेकर सुनाया जाता है कि - एक पागल खाने में कुछ पागल गुलाब का फूल सूँघते हुए अपने आपको जवाहरलाल नेहरू कह रहे हैं। एक-दूसरे का सिर फोड़ रहे हैं।

हमारे शहर के एक सज्जन अक्सर कहा करते कि यदि उन्हें एक दिन के लिए प्रधानमंत्री बना दिया जाये तो वे पूरे देश को ठीक कर देंगे। पूरा शहर उनकी हँसी उड़ाया करता। ज़रा सोचिए जिस विषय पर सोचने से ही हँसी उड़ने लगे, कोई निबन्ध क्यों लिखेगा।■

मनोज कुमार श्रीवास्तव

विचारशील लेखक के तौर पर ख्याति। गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार। कविता के संसार से अलग, उनका गद्य विचार जगत की गहराईयों में जाता है। अपनी परम्परा से निरंतर संवाद करता इनका लेखन आधुनिकता के प्रचलित मुहावरों से भी बाहर जाता है। प्रकाशित कृतियां : कविता संग्रह - 'मेरी डायरी से', 'यादों के संदर्भ', 'पशुपति', 'स्वरांकित' और 'कुरान कविताएँ'। 'शिक्षा के संदर्भ और मूल्य', 'पंचशील वंदेमातरम्', 'यथाकाल' और 'पहाड़ी कोरवा' पर पुस्तकें प्रकाशित। 'सुन्दरकांड' के पुनर्पाठ पर दस खण्ड प्रकाशित। दुर्गा सप्तशती पर 'शक्ति प्रसंग' पुस्तक प्रकाशित। सम्प्रति : १९८७ संवर्ग के भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी।

सम्पर्क : shrivastava_manoj@hotmail.com

व्याख्या

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी
सकल ताड़ना के अधिकारी

कई बार प्रसंग और संदर्भ से बाहर निकली एक पंक्ति-व्यर्थ के कलह, कलुष और कलंक का कारण बन जाती है। बचपन से ही जब कविता का अर्थ हम लोगों से स्कूल में लिखवाया जाता था तो प्रसंग और संदर्भ सहित ही लिखवाया जाता था। शायद इसलिए कि चीजों को आउट ऑफ कान्टेक्स्ट उद्धृत करने की राजनीति में आगे जाकर हम नहीं उलझें। कॅन्टेक्स्ट टेक्स्ट के वाचन की अनिवार्यता है। सिर्फ पठन, पाठन, पारायण और टीका में ही नहीं बल्कि जीवन में, विकास के मॉडेल्स के औचित्य निर्धारण में संदर्भ-संवेदनशीलता (Context-sensitivity) एक मूल्य और मानक सी बन गई है। सांदर्भिकता (sensitivity) का तर्क यही है कि हर चीज एक संदर्भ के भीतर है। सन्दर्भ संज्ञान की सरहद है। सीमांतिकी (Semantics) की सीमा। प्रत्येक टेक्स्ट की अब स्थिति एक संप्रेषण- जनपद की चौहद्दी में है। शब्द का मुल्क है। कवि का इलाका। यदि हमें कवि की वाचा की यह परिभूमि ही नहीं मालूम है, वे सारे सांदर्भिक तत्व ही नहीं मालूम हैं जिन्होंने उस कथ्य को आकार दिया है तो अक्सर यह दुर्घटना घटती है। यदि पाठक को प्रसंग-प्रदेश की भौगोलिकी का ज्ञान नहीं है तो वह स्वयं अपने पूर्व-ज्ञान, पूर्वानुभवों, पूर्वानुभूतियों, विश्वासों का उपयोग अर्थान्वयन में करता है। किसी कथन का एक अपना पर्यावरण होता है। मैं शब्द के मौसम की बात नहीं कर रहा, मैं किसी कथन की जलवायु की भी बात नहीं कर रहा। मैं उस पूरी पारिस्थितिकी की बात कर रहा हूं, जो किसी 'अभिव्यक्त' को निर्णीत करती है। कविता का एक लोकाकाश होता है, भाषा का भी। भाषा का एक सेक्टर फैक्टर होता है। एक ही शब्द बुलैट का मिलिट्री में अलग अर्थ होगा, सॉफ्टवेयर की दुनिया में अलग और वित्त की दुनिया में अलग।

रामचरितमानस लोक भाषा में लिखी गई। तुलसीदास जैसे महापंडित का यह एक सचेत निर्णय था। **'भाषानिबन्धमति मंजुलमातनोति'** के साथ-साथ **'भाषा भनिति भोरि मति मोरी'**: भाषा में लिखने का निर्णय। **'भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने:'** 'सब भाषा भनिति प्रभाउ', 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई।' ये सब उद्धरण इस बात के प्रतीक हैं कि तुलसी का संकल्प संस्कृत में नहीं, हिन्दी भाषा में बल्कि अवधी में लिखने का था। वे **'ग्राम नगर दुहुँ कूल'** गांव और शहर के दोनों दूरवर्ती किनारों के लिए लिखने का संकल्प लिए थे। अवधी हिन्दी के मानकीकरण के पूर्व देश की दूसरी बड़ी काव्य भाषा थी। ब्रज के बाद। मध्यकाल में इसका प्राधान्य न केवल रामचरितमानस से बल्कि मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत से भी स्थापित हुआ था। लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद, लखीमपुर खेरी, सीतापुर, रायबरेली, हरदोई, सुल्तानपुर, गोंडा, उन्नाव, प्रतापगढ़, फतेहपुर, बलरामपुर, बहराइच आदि-आदि में अवधी आज भी बोली जाती है।

> ज्यादातर आरोप नारी या शूद्र के बारे में हैं। कहा गया है कि तुलसीदास इन दोनों वर्गों के प्रति पूर्वग्रहग्रस्त और असहिष्णु थे। मुझे समझ नहीं आता कि पशु अधिकारों के रक्षक क्यों चुप हैं? एनीमल लिबरेशन फ्रंट और पीपुल फॉर द एथिकल ट्रीटमेंट ऑफ एनीमल्स (PETA) क्यों चुप है?

इसलिए इन पंक्तियों के बारे में यदि कोई अर्थ निकालना होगा तो यह अर्थ वही होगा जो उस जनपद में बोली जाने वाली भाषा 'अवधी' में होता है, वह अर्थ संस्कृत शब्दकोष से प्राप्त नहीं किया जाएगा, लोकभाषा स्रोतों से प्राप्त होगा।

इन पंक्तियों को लेकर काफी कुछ कहा गया है। ज्यादातर आरोप नारी या शूद्र के बारे में हैं। कहा गया है कि तुलसीदास इन दोनों वर्गों के प्रति पूर्वग्रहग्रस्त और असहिष्णु थे। मुझे समझ नहीं आता कि पशु अधिकारों के रक्षक क्यों चुप हैं? एनीमल लिबरेशन फ्रंट और पीपुल फॉर द एथिकल ट्रीटमेंट ऑफ एनीमल्स (PETA) क्यों चुप है? क्या 'खग मृग तरुवर श्रेणी' वाला सर्वात्मवाद सुंदरकांड के अंत तक समाप्त हो गया? उस सुंदरकांड में जिसके नायक कपिश्रेष्ठ हनुमान हैं? इन पंक्तियों को लेकर न केवल तुलसीदास, भगवान राम या लक्ष्मण, बल्कि स्वयं हिन्दुत्व के खिलाफ प्रवाद फैलाए गए। तुलसीदास के इस उद्धरण को 'बदमाशी भरा' (notorious) तक कहा गया। इनमें से काफी कुछ प्रवाद तो सुनी सुनाई बातों पर आधारित थे। मसलन एक ब्लॉगर अनिमेष का कहना था कि ये शब्द राम के द्वारा नहीं, लक्ष्मण के द्वारा कहे गए थे। लक्ष्मण थोड़े 'टेंपरामेंटल' रहे हैं तो राम को बचाने के लिए उन पर आरोप मढ़ देना अनपढ़ों के लिए आसान पड़ता है। एक ब्लॉगर-नेपाल के विस्वो पाउडेल- यह पाकर राहत की सांस लेते हैं कि यह बात न तो राम के और न लक्ष्मण के द्वारा कही गई बल्कि एक अन्य पात्र 'समुद्र' द्वारा आत्म-पीड़क (self-fleggatory) टोन में कही गई। एक अन्य ब्लॉगर अग्निवीर कहते हैं कि- "In any case bringing "Naari' in same category as Dhol, Gavaar, shudra, Pasu even while talking of education rights is humiliating. Regardless of what Tulsiji intended, this example of equating women with animals, drum etc. is in poor taste. What if I say" Drums, Uncivilized, Animals, Idiots and Pandits need training. Technically correct, but in bad taste." एक अन्य सज्जन इस पंक्ति को उद्धृत कर कहते हैं : "Tulsidas did not have much regard for women.' हालांकि हास्य कवि सुरेन्द्र शर्मा ने इसका जवाब अपने ही अंदाज में दिया : 'मैंने घड़ारी से बोला/तुझे रामायण के इस दोहे का मतलब पता है। ढोल गंवार शूद्र पशु नारी/सकल ताड़ना के अधिकारी/घड़ारी बोली : अजी इसका मतलब है/इसमें एक जगह मैं हूँ चार जगह आप हैं।'

मजाक एक तरफ। यह कहा जा सकता है कि इंटरनेट पर कहीं जा रही बातों को गंभीरता से नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि इसकी एक वेबसाइट www.thaindian.com/forums तो इस कथन का रचयिता चाणक्य को मानकर उनकी मज़म्मत करती है। इस तरह के अज्ञान की बहुतायत है। एक अन्य वेबसाइट http://blogs.ibibo.com/viewcomments.aspx? में इसका अर्थ यह किया गया है कि : "Meaning that animals, illiterates, lower castes and women should be subjected to beating. Thus women were compared with animals and were married off at an early age'. सागरिका घोष अपने एक लेख में कहती हैं :

"The famous poet Tulsidas once said : Dhol Gawar, Shudra, Pashu Nari/Sakal Tadna ke adhikari (Women, animals and shudra (lower-caste) should be thrown out of society.' एक अन्य सज्जन www.indiamike.com में लिखते हैं : "This is what I have read myself and i don't need any vatican translation for this. Dhol, ganwar, Shudra, pashu, nari, sakal tadna ke adhikari, Drum (music instrument), fellas from Village, dalits (low Caste) livestock and women should be beaten everyday.' इन पंक्तियों का आशय 'प्रतिदिन पीटने' या 'इन वर्गों को समाज से बाहर फेंकने' का लिया जाएगा, तुलसीदास जी ने अपने भयंकरतम दुःस्वप्न में भी इसकी कल्पना नहीं की होगी। फिर इनमें पाकिस्तानी कड़ियां भी आ जुड़ेंगी, एक वेबसाइट www.paklinks.com/gs/ religion_scriptures में तो इस पंक्ति के आधार पर यह 'गपशप' चला दी गई है कि आधुनिक संसार में क्या हिन्दुत्व एक अनुकरण योग्य धर्म है कि नहीं ("Is Hinduism a followable religion in the modern world')?

इसका एक उत्तर तो डॉ. राज पंडित ने तुलसीकृत रामायण की उन पुरानी पांडुलिपियों के सहारे देने की कोशिश की है जो त्रिनिदाद एवं टोबैगो की सनातन धर्म महासभा के धर्माचार्य के पास हैं। ये पांडुलिपियां उनके प्रपितामह साथ लेकर आए थे जब उन्हें अंग्रेजों ने मजदूरों के रूप में वेस्टइंडीज भेजा था। इसे १८१३ में खिडिरपुर संस्कृत प्रेस ने छापा था और बाबूराम सारस्वत ने इसका संपादन किया था और उसमें इस पंक्ति की व्याख्या यह कहकर की गई 'ढोल, गवैंहा, सेवक, पशु एवं नारी सब उपदेश के पात्र हैं', 'All deserving of instruction.' यहां ताड़ना का अर्थ 'उपदेश' किया गया है और मारने-पीटने (beating या chastisement) के रूप में नहीं। लेकिन ताड़ना का 'उपदेश' के रूप में अर्थ भी संस्कृत शब्दकोष की उपज है, वह अवधी के लोक भाषाई स्रोतों से नहीं आया है। फिर ढोल का उपदेश

कल्पनाशक्ति पर कुछ ज्यादा ही दबाव डालता है। अमूल्य गांगुली थोड़ा और करीब पहुँचते हैं जब वे लिखते हैं : 'The line can have more than one interpretation. For instance, a drum is beaten not to create a discordant noise but to top out a rhythm. Only a skillful player has the art to elicit musical notes from a drum. So it can be argued that the purpose of taran is not just thrasing someone, but to impart training as an animal is trained or a person is educated.'

दलित चिंतकों ने इसे शूद्र की ताड़ना को तुलसी का समर्थन ठहराया। श्री सूरजभान तो एक महत्वपूर्ण संवैधानिक पद पर अधिष्ठित थे। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा और रामचरितमानस की इस पंक्ति का उदाहरण देते हुए कहा कि ऐसे उद्‌गारों को शास्त्रों से हटा दिया जाना चाहिए। - 'should not be allowed in print in a society with a constitution giving equal rights to all." १९८३ में एक सांसद श्री राजनाथ सोनकर शास्त्री ने रिलीजस स्क्रिप्चर्स अमेंडमेंट बिल भी प्रस्तुत किया था। मुझे आज तक यह समझ नहीं आया कि **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू/आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू'**- 'जिसे करोड़ों ब्राह्मणों की हत्या लगी हो, शरण में आने पर मैं उसे भी नहीं त्यागता' जैसे कथनों के आधार पर अब तक किसी ने तुलसी को ब्राह्मण विरोधी क्यों नहीं बताया? किसी ने जैसे उस एक कथन को शास्त्र से निकालना चाहा, वैसे इस एक कथन को क्यों नहीं निकलवाना चाहा? पहला कथन तो समुद्र जैसे जड़ पात्र के द्वारा तुलसी ने कहलवाया है- **'इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी!'** वह भी ऐसे जड़ पात्र के द्वारा जो गहरी आत्म-ग्लानि में ग्रस्त है। लेकिन **'कोटि बिप्र बध'** वाला उद्‌गार तो साक्षात 'प्रभु' को कहते हुए बतलाया है। संवेदना का यह कौन सा ध्रुवान्त है जिसके तहत एक का 'ताड़न' भी सहन करने योग्य नहीं और दूसरे का 'वध' भी आपत्ति के लायक नहीं लगता। संवेदना की इस सरहद पर 'एक' और 'कोटि' का भी फर्क समाप्त हो जाता है। कोटि बिप्र बध तो एक तरह का जेनोसाइड हुआ। तो क्या तुलसी ब्राह्मणों का पोग्राम करवाना चाहते थे? जातीय नरसंहार? एद्‌निक क्लीजिंग? यदि वह एक कोटि (श्रेणी) है तो यह कोटि भी कोटि है। संख्या नहीं, वर्ग। संवेदना के ये कौन से कोष्ठक हैं? करुणा के ये कौन से कारागार हैं? क्या इनकी पूर्ति यह कहकर हो सकती है कि तुलसी ने अन्यत्र 'द्विज-पद-प्रेम' की बात कहकर इसका परिहार किया है? तो वह परिहार गुह, निषाद, केवट, शबरी आदि से क्यों नहीं संभव हुआ? क्या तुलसी को इसकी आशंका रामचरितमानस लिखते समय बहुत पहले से नहीं थी? कि **'पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास'**- कि उनकी इस रचना को सुनकर सज्जन सभी सुख पावेंगे और दुष्ट हंसी उड़ावेंगे। संवेदना का स्वस्तिक एक गतिमय स्वस्तिक है। उसकी गति चक्रानुगमन करती है और वही विष्णु का सुदर्शन चक्र हो जाता है। यदि ईश्वर की करुणा जातिभेद करती होती तो ईश्वर भी करुणा का कोटा निर्धारित कर रहा होता। 'कोटि' से कोटे तक पहुंचने में वक्त कितना लगता है। लेकिन तुलसी वर्ग-भेद का लक्ष्य लेकर नहीं चल रहे। उनके रामराज में जो बात सबसे ज्यादा ध्यान देने योग्य है, वह है 'सब' शब्द का उपयोग। **'सब नर करहिं परस्पर प्रीती।' 'सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।'** सब निर्दंभ धर्मरत पुनी/नर अरु नारि चतुर सब गुनी'/सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी/सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।' यदि तुलसी की निष्पत्ति किसी पूंजीवादी, किसी वर्ग-वैषम्यवादी, किसी सर्वहारा की तानाशाही वाले समाज की होती तो वे 'सब' की यह रट नहीं लगा रहे होते। वे 'सब उदार सब पर उपकारी' भी नहीं कह रहे होते।

बल्कि यदि 'शूद्र-ताड़ना' (beating of slaves) उनका उद्देश्य रहा होता तो वे हम्मूराबी-संहिता (१८०० ई.पू.) जैसी कोई रचना कर रहे होते, हमारे यहां भी Chattel slavery जैसी कोई चीज होती। मोरिटेनिया में अभी अगस्त २००७ में दासता को आपराधिक बताने वाला कानून आया है। वहां जनसंख्या का २० प्रतिशत दासत्व की स्थिति में था। नाइज़र में अभी भी दासता चलती है। एक नाइजीरियन अध्ययन के अनुसार उस देश में ८ प्रतिशत जनसंख्या दासत्व की आज शिकार है। म्यानमार में ८ लाख लोग (अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एक अध्ययन के अनुसार) इसके शिकार हैं। १९२६ के दासता अधिवेशन की प्रतिज्ञाएँ क्या कह रही थीं?

कुछ लोगों ने इस पंक्ति की व्याख्या इस तरह से की है कि वह व्याख्या नहीं, सफाई अधिक लगती है। जरूरत टीका की है लेकिन दिए स्पष्टीकरण जा रहे हैं। मसलन एक बन्धु यह कहते हैं कि तुलसी के समय हिन्दी में अंग्रेजी का हाइफन नहीं होता था। इस कारण तुलसी के जिन शब्दों को ५ वर्ग समझा जाता है- ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी वे वस्तुतः तीन वर्ग हैं : एक ढोल, दूसरा गंवार-शूद्र और तीसरा पशु-नारी। ये तीनों प्रताड़ना, दंड, पिटाई के योग्य हैं। हर शूद्र पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे क्वालिफाई करता है। हर नारी भी पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे भी क्वालिफाई करता है। गंवार-शूद्र और पशु-नारी पृथक-पृथक संज्ञाएं नहीं हैं। उनके बीच विशेषण-विशेष्य संबंध है।

यह व्याख्या इन पंक्तियों की कर्कशता को कम करने की और उन्हें सह्य बनाने की कोशिश है। एक तरह की

> *हर शूद्र पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे क्वालिफाई करता है। हर नारी भी पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे भी क्वालिफाई करता है। गंवार-शूद्र और पशु-नारी पृथक-पृथक संज्ञाएं नहीं हैं। उनके बीच विशेषण-विशेष्य संबंध है।*

> मनुष्य का चरित्र ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर, अथवा पवित्र है या अपवित्र तो गंवार शूद्र को किसी विशेष ताड़ना का हिस्सा बनाना कवि तुलसीदास का अभिप्रेत नहीं हो सकता था।

नैरोकास्टिंग। लेकिन यह उचित नहीं है, औचित्यीकृत है। एक पल को इसे मान भी लिया जाए कि बात गंवार-शूद्र के बारे में कही जा रही है तो उससे समाधान जितना नहीं होता, सवाल उतने ज्यादा उठते हैं। प्रतिप्रश्न ये है कि यदि गंवार शूद्र ताड़ना के काबिल हैं तो गंवार-ब्राह्मण क्यों नहीं? मनु तो अपमान को ब्राह्मण का पथ्य कहते थे। स्मृतियों में तो यहाँ तक कहा गया कि अर्चित और पूजित ब्राह्मण दुही जाती हुई गाय के समान खिन्न हो जाता है। गंवार ब्राह्मण को तो शास्त्रों में पंक्तिदूषक ब्राह्मण या अपांक्तेय ब्राह्मण के रूप में वर्णित किया गया है। वेदव्यास ने महाभारत के वनपर्व में **'चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते'** क्यों कहा था? देवी भागवत में **'यस्त्वाचार विहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तमः'** को बहिष्कार योग्य क्यों कहा गया? गंवार-शूद्र ही क्यों, गंवार-वैश्य और गंवार-क्षत्रिय को भी ताड़ना मिलनी चाहिए। बात तो आचरण की है। वाल्मीकि ने यही तो कहा था : **'कुलीनमकुलीन वा वीरं पुरुषमानिनम्/चारित्र्यमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम'**- मनुष्य का चरित्र ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर, अथवा पवित्र है या अपवित्र तो गंवार शूद्र को किसी विशेष ताड़ना का हिस्सा बनाना कवि तुलसीदास का अभिप्रेत नहीं हो सकता था।

यही बात पशु-नारी के संदर्भ में है। क्या तुलसी उत्तरपूर्वी कंबोडिया के जंगलों में अभी जनवरी २००७ में पाई गई उस स्त्री के बारे में बात कर रहे थे जो ६ साल की उम्र में जंगलों में खो गई, १९ साल जंगलों में जानवरों के बीच रही और जब पुलिस ने उसे बरामद किया तो वह पूर्णतः जानवरों जैसी हरकतें कर रही थी? क्या वे 'वाइल्ड वोल्फ वूमन' (जंगली भेड़िया-स्त्रियों) के बारे में प्रतिक्रिया दे रहे थे? क्या तुलसी अरस्तू की तरह स्त्री को 'आत्म विहीन' प्राणी मान रहे थे? क्या नारी की 'एनीमलिटी' पुरुष के पशुत्व से विशेष बदतर है? तुलसी पशु-पुरुष को प्रताड़ना योग्य क्यों नहीं मानते? क्या तुलसी 'पशु-नारी' के रूप में किन्हीं 'गुरिल्ला नारियों' को ताड़ना योग्य बता रहे थे? स्त्रीवादी लेखिका एलिजाबेथ स्पेलमेन ने 'सोमाटोफोबिया' नामक एक मानसिक व्याधि की चर्चा की है जिसमें स्त्री को पशु से समीकृत किया जाता है। क्या तुलसी इस सोमाटोफोबिया के शिकार थे? क्या 'पशु-नारी' शब्द अपने आप में ही पशु और मनुष्य के बीच में किसी द्वैत के होने का परिचायक नहीं है? शैव दर्शन में पशुपति की संकल्पना 'पशु' की व्याख्या किस तरह से करती है? क्या अंग्रेजी में स्त्रियों को 'कैटी' (Catty), श्रू (Shrew), काउ (cow), बिच (bitch), डम बन्नी (Dumb bunny), ओल्ड क्रौ (old crow), विक्सन (vixen) कहने वाले अभिधान इसी 'पशु-नारी' के बारे में हैं? जोरू के गुलाम के लिए अंग्रेजी में जो 'हेन्पेक्ड' शब्द चलता है वह स्त्री को 'मुर्गी' मानता है। ये तो नकारात्मक अर्थों वाले शब्द हैं लेकिन 'फॉक्सी' जैसे स्त्री-विश्लेषण भी स्त्री की पशु-पहचान को ही उभारते हैं। तो तुलसीदास किसी सैक्सुअल हैरासमेंट के समर्थक थे? क्या तुलसीदास भारत में पशु और मनुष्य के बीच सांस्कृतिक रिश्तेदारी से अनभिज्ञ थे? पशु नारी हमेशा ही नकारात्मक हो, यह भी कैसे मान लिया जाए? मेरी वेब का उपन्यास 'गोन टू अर्थ' (१९१७) पढ़िए जिसमें उसने हेज़ेल नामक एक ऐसे स्त्री पात्र की रचना की है जिसमें जंगली निर्दोषिता और ऊर्जस्विता है, जो अपने आसपास के सामाजिक विश्व को जैसे 'बिलांग' ही नहीं करती, क्या वह 'पशु-नारी' ताड़ना योग्य लगती है? हेज़ेल पशुओं की मूक वेदना को समझती है और एक छोटी लोमड़ी को बचाने की कोशिश में प्राण भी दे देती है। क्या तुलसी जैसा संवेदनशील कवि ऐसी प्रकृत सहज नारी की प्रताड़ना के बारे में कभी सोच भी सकेगा? जब 'बैटमैन', स्पाइडर मैन, एनीमल मैन आदि के रूप में आधुनिक कॉमिक हीरो लोकप्रिय हो रहे हैं तो पशु-नारी में ऐसी क्या कमी है कि आधुनिक व्याख्याकार उसे प्रताड़नीय समझ रहे हैं? एनीमल मैन बडी बेकर के पास टाइरेनोसॉरस रेक्स की शक्ति, चिड़िया की उड़ान, मछली की तरह तैरने की योग्यता, मक्खी के रिफ्लेक्सेस, मकड़ी की तरह दीवार पर चढ़ने, सांप की फुर्ती, कीड़े की तरह अपने शरीरांगों को फिर से उगाने की शक्ति, काकरोच की तरह का टिकाऊपन, आदि-आदि अनेक जानवरों की शक्तियां हैं। यदि बेकर के विशेष आकर्षण का कारण वे पशु शक्तियां रही हैं तो स्त्री में पशु की शक्तियों का होना क्या एक विशेष विकर्षण का विषय हो सकता है? अपनी पंक्तियों के लिंगाधारित अर्थान्वयन (फैलोसेन्ट्रिक कन्स्ट्रक्शन) पर तुलसी क्या सतपाल महाराज जी को बधाई देंगे?

भारत की इस आधार पर लानत मलानत करने वाले कि यहां स्त्री को ताड़ना के काबिल ही बताया गया है, स्वयं यह नहीं बताते कि उनके यहां यह क्यों कहा गया कि-

A Spaniel, A Woman
And a walnut tree
The more you beat them
The better you be

इसलिए इस तरह की पंक्तियों के आधार पर सांस्कृतिक या धार्मिक श्रेष्ठता के दावे उपहासास्पद लगते हैं। बल्कि इस

व्याख्या

अंग्रेजी उक्ति में 'बीट' शब्द के बारे में कोई अर्थ-विषयक भ्रम नहीं है। मैं बाइबल के 'महाप्रयाण' (Exodus) से उद्धृत करूं: 'When a man sells his daughter as a slave, she will not be freed at the end of six years as the men are. If she does not please the man who bought her, he may allow her to be bought back again.' दासों को मारने के बारे में वहां क्या कहा गया : 'When a man strikes his male or female slave with a rod so hard that the slave dies under his hand, he shall be punished. If, however, the slave survives for a day or two, he is not to be punished, since the slave is his own property.' इसी में ईश्वर न केवल बेटियों को दासी बनाकर बेचा जाने को ही संस्वीकृति नहीं देता बल्कि यह भी बताता है कि इसे कैसे किया जा सकता है। तोराह में तो कोई औरत पति की अनुमति के बिना कोई संकल्प तक नहीं ले सकती। 'जिन शहरों को भगवान की कृपा से तुम जीत लेते हो, उनके सभी आदमियों और बच्चों को मार डालो, लेकिन औरतों को अपने भोग के लिए रखो।' (Deuteronomy २०:१३-१५) 'यदि कोई औरत बलात्कार का शिकार होने पर भी चिल्लाती नहीं है तो उसे मार डाला जाए।' (Deuteronomy २२:२३-२४) कोई बलात्कारी अपनी 'शिकार' को उसके पिता से ५० शेकेल में खरीद सकता है। (Deuteronomy) इसलिए तुलसी की पंक्ति के आगे सांस्कृतिक श्रेष्ठता के दावे ठहर नहीं सकते। एक्लेसिआस्टिकस की तरह सुन्दरकांड नहीं कह रहा है कि "sin began with a woman and thanks to her we all must die.' (२५:१८, १९, ३३) जेफर्सन डेविस, जो अमेरिका के कान्फेडरेट राज्यों के अध्यक्ष थे, ने कहा था कि दास प्रथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के द्वारा आदेशित व्यवस्था है। यह बाईबल में संस्वीकृत है- 'दोनों टेस्टामेंटों में- जिनेसिस से लेकर रिवीलेशन तक- यह सभी युगों में अस्तित्व में रहा है।' एक अन्य पादरी अलेक्जेन्डर कैंपबेल ने कहा कि 'बाईबल में दास प्रथा को वर्जित करने वाला एक छन्द नहीं है, किंतु उसे नियम और विधान में बांधने वाले ढेरों छंद हैं। इसलिए दास प्रथा गलत नहीं है।' जिस समय ब्रिटेन और अमेरिका में दास प्रथा का दौर था, उस समय उसे जीसस और बाईबल के संदर्भों से उचित ठहराया जाना आम था।

जो लोग ताड़ना का अर्थ पिटाई या प्रताड़ना से लगाते है, वे अवधी समझना तो खैर छोडें, सुन्दरकांड के उस प्रसंग को भी नहीं समझते जिसमें यह पंक्तियां प्रयुक्त हुई है। इन पंक्तियों का संदर्भ यह है कि राम समुद्र से रास्ता मांग रहे है। वे विभीषण की सलाह पर चल रहे है, हालांकि लक्ष्मण की राय किंचित् भिन्न है। विनय करने के खिलाफ है। तीन दिन बीत जाने पर भी जड़ जलधि नहीं पसीजता। तब राम "सकोप" बोलते है कि बिना भय के प्रीति नहीं होती। शठ के साथ विनय का कोई अर्थ नहीं। "ऊसर बीज भए फल जथा" वे लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि "लछिमन बान सरासन आनू"- कि वह उनके धनुष बाण लेकर आये ताकि वे "सौषौं बारिधि"- समुद्र को सुखा दें। फिर राम के प्रत्यंचा तानते ही समुद्री जीव जन्तु सब अकुलाने लगते हैं। राम समुद्र को दंड देने को प्रस्तुत हैं।

अब समुद्र प्रकट होता है वह उन्हें बताता है कि वह जड़ है। वह उन्हें उनकी मर्यादा की भी याद दिलाता है लेकिन यह सब वह राम के आशंकित दंड के परिहार के लिये कहता है यदि उसका लक्ष्य दंड के आमंत्रण का होता तो वह तो राम पहले ही करने को सन्नब्ध हो चुके थे। उसका अभिप्रेत तो उस सन्नब्धता का निवारण है। यदि वह "सकल ताड़ना के अधिकारी" में प्रयुक्त ताड़ना को दंड के अर्थ में लेता कि वह दंडनीय है, तो वह राम की सन्नब्धता को ही जस्टिफाई कर रहा होता। कि चलो हमें पीट लो। हम तो पिटने के ही लायक है, लेकिन वह तो राम को उनकी उस मनोदशा से 'डिस्सुएड' करना चाहता है। इसलिये यह कहना कि इन वर्गों के माध्यम से वह स्वयं को भी पिटाई-योग्य मानना बताना चाह रहा है, प्रसंग के एकदम उलटा पड़ता है।

कई बार मुझे यह भी संदेह होता है कि इस पंक्ति में समुद्र यदि ताड़ना को दंड के अर्थ में ले रहा होता तो वह अपने को किस स्थान, किस श्रेणी में रखता। क्या समुद्र एक ढ़ोल है? नहीं। क्या समुद्र गंवार है? विभीषण उसे "प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि" कहते हैं? इसी कुलगुर शब्द से ही 'शूद्र' की कोटि भी निराकृत होती है। क्या समुद्र पशु है। समुद्री जीव-जन्तु उसमें है, लेकिन वह उनसे अधिक है और नारी तो वह है नहीं। तो वह इन सब वर्गों के अप्रासंगिक नाम गिनाता ही क्यों है? क्या वह राम का ध्यान भटकाना चाहता है? क्या वह यह कहना चाहता है कि पिटाई के अधिकारी तो ये सब लोग है, मैं नहीं? क्या यह वह चतुराई है जो अपने को दोष मुक्त करने के लिये दूसरे को प्रस्तुत कर देती है? क्या अपराध की अन्याक्रांति की यह कोशिश राम को भरमा पायेगी? तब क्या समुद्र राम के दंड के आतंक से इतना अकबका गया है कि आंय बांय सांय बके जा रहा है? राम उससे पूछ न लेंगे कि औरों की छोड़ों, अपनी कहो। फिलहाल तो राम वैसे ही कुपित हैं। ऐसे में समुद्र द्वारा यह कहने की थोड़ी सी कोशिश कि दंड का भागी या पात्र मैं नहीं, कोई और है तो राम के क्रोधानल को और भड़का देगी। तो समुद्र दंड के निवाराणार्थ ऐसी कोशिश, राम के तत्सामयिक मूड को देखते हुए, करने

> *समुद्र प्रकट होता है वह उन्हें बताता है कि वह जड़ है। वह उन्हें उनकी मर्यादा की भी याद दिलाता है लेकिन यह सब वह राम के आशंकित दंड के परिहार के लिये कहता है यदि उसका लक्ष्य दंड के आमंत्रण का होता तो वह तो राम पहले ही करने को सन्नब्ध हो चुके थे।*

'बिप्र रूप धरि बचन सुनाये।' इसलिए विप्र का रूप रखकर शूद्र की बात करने का कोई अर्थ नहीं। समुद्र स्वयं को राम के सामने एक ऐसे व्यक्ति की तरह पेश करता है जो विशेष अवधान के लायक है। विशेष खातिर तवज्जो के लायक।

का जोखिम मोल नहीं ले सकता। तब इसका-इस उक्ति का-प्रसंग की संगति में अभिप्रेत अर्थ क्या है?

इन वर्गों के विरुद्ध किसी भी तरह की नकारात्मकता समुद्र को उनके ब्रेकिट में नहीं ले जा सकती। वह अपना दोष भुलाने के लिये दूसरे के सर मढ़ने जैसी चेष्टा होगी। समुद्र इनके ब्रेकिट में तभी आ सकता है जब वह इनके बारे में कुछ सकारात्मक बोल रहा हो। तब वह कह सकता है कि जैसे ये सब हैं, वैसा ही मैं भी हूं। जैसे तुम इन सबका ध्यान धरे हो, वैसे मेरा भी ध्यान धरो। गुह, निषाद, केवट, शबरी को प्रेम करने वाले राम के सामने वह गंवार और शूद्र को पीटने के लिये कहेगा और खुद पिटाई न खा जायेगा? जटायू को मुक्ति देने वाले-और "बानर भालु बरूथ" की सेना बनाने वाले राम के सामने वह पशु की पिटाई की बात करेगा और खुद पिट न जायेगा? सीता तो छोड़ें जो कैकेयी के विरुद्ध भी ऐसा एक शब्द नहीं बोलने की सावधानी रखते हैं जो उसके मन को दुखाये, उन राम के सामने वह नारी को ताड़ना का अधिकारी कह जायेगा और बचकर चला जायेगा। कम से कम इस चौपाई को जिस संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है, वहां नकारात्मक अर्थ की गुंजाइश किसी तरह नहीं दिखती। समुद्र तो एक सीधी सी बात कह रहा है। वह चीजों की अंतर्भूत प्रकृति की बात कर रहा 'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही' में शिक्षा की बात है, संस्कृति की बात है। फिर वह यह भी कहता है : मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही। किंतु मर्यादा भी आपकी ही बनाई हुई है। मर्यादा यानी चीजों का स्वभाव। यह प्रकृति और संस्कृति का द्वन्द्व है। इसे रेखांकित करते हुये समुद्र अचानक जातिभेदी या वर्णभेदी या मेल शोविनिस्ट या पशु विरोधी बात क्यों करने लगेगा? वहां तो कोई ऐसा पाज़िटिव अभिप्राय होना चाहिये जो राम की क्रोधाग्नि को शीतल करे। राम एक आधुनिक युवक हैं- उनकी संवेदनायें सर्वग्राही और सर्वस्पर्शी है। उनके सामने किसी तरह के धृष्ट पूर्वाग्रह की बात कहने का दुसाहस कोई साधारण समय में नहीं कर सकता, तब की तो बात ही अलग है जब राम एक "फाउल मूड" में हों।

कई लोग तो इन पंक्तियों को जस्टिफाई करने के लिये और भी बड़ी जुगत भिड़ाते है। बड़े-बड़े पांडित्य के बोझ से ये पंक्तियां झुकी जाती हैं। एक सज्जन ने ये पांच वर्ग देखे और इनके ठीक ऊपर पंचतत्वों की भी चर्चा देखी। गगन समीर अनल जल धरनी को उन्होंने ढोल गंवार शूद्र पशु नारी से जोड़ दिया। उसी क्रम में। अब गगन ढोल बन गया। यह साम्य एकदम अटपटा भी नहीं है। ढोल के भीतर शून्य है और शून्य में स्वन है। धरनी को नारी से जोड़ना भी सहज लगता है। नारी धरित्री तो है ही। लेकिन बौद्धिक कसरत तो समीर को गंवार से, अनल को शूद्र से, जल को पशु से जोड़ने में करनी पड़ती है और वह तमाम प्रज्ञा-प्राणायाम के बावजूद कोई बहुत कन्विसिंग नहीं जान पड़ती। आखिरकार समीर गंवार कैसे हो सकता है। मारुति के अध्याय में मरुत गंवार? अनल को शूद्र कहने का एक प्रगतिशील अर्थ तो संभव है कि जो सेवा करता है उसके भीतर एक अग्नि धधका करती है। वह अग्निधर्मा है, वह आलोकधन्वा है। लेकिन इन विशारद ने उसे इन अर्थों में तो लिया नहीं। जल को पशु कहना भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। फिर पंच तत्वों का ताड़ना से क्या रिश्ता? बौद्धिक जिमनास्टिक्स में ताड़ना का एक संस्कृत अर्थ घर्षण ले लिया गया। अग्नि तो घर्षण से पैदा हुई ही। गगन लेकिन बिग बैंग से हुआ। जल और समीर तो इतने प्रत्यक्षतः घर्षणपरक नहीं लगते।

तुलसी जब **'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी/सकल ताड़ना के अधिकारी'** बोलते हैं तो उसमें प्रयुक्त 'ताड़ना' शब्द का अर्थ संस्कृत शब्द कोषों से निकालने की जगह उस अवधी भाषा से निकालना चाहिए जिसमें रामचरितमानस लिखा गया। मैं जब लखनऊ गया तो वहां मैंने एक वृद्धा मां को अपनी बेटी को- जो मायके बाल-बच्चों समेत अपनी मां से मिलने आई थी- विदा के वक्त यह कहते देखा कि : 'बाल बचियन को ताड़ियत रहियो।' उसके कहने के लहजे से मैं जो समझा वह शायद यह था कि 'टेक केअर ऑफ द चिल्ड्रन।' इस 'ताड़ना' में कंसर्न है, इस ताड़ना में सलाह है और सद्भाव भी। लेकिन जिन लोगों ने संस्कृत- अंग्रेजी के शब्दकोष, शब्दार्थ-कौस्तुभ आदि को पढ़ा है वे इस लोक-परंपरा से निःसृत अभिव्यक्ति के पास नहीं पहुंच सकते। समुद्र वैसे भी डरा हुआ है। उसके मनोभाव के अनुकूल है कि वह भगवान से कहे कि वह ध्यान रखने के काबिल है, 'केअर' करने के काबिल है। यदि पीटना ही उसका अभिप्रेत होता तो 'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी' से उसे क्या सहायता मिल रही थी क्योंकि वह तो विप्र रूप रखकर आया था? विप्र रूप का तुलसी हनुमान-विभीषण प्रसंग में भी उपयोग कर चुके हैं : **'बिप्र रूप धरि बचन सुनाये।'** इसलिए विप्र का रूप रखकर शूद्र की बात करने का कोई अर्थ नहीं। समुद्र स्वयं को राम के सामने एक ऐसे व्यक्ति की तरह पेश करता है जो विशेष अवधान के लायक है। विशेष खातिर तवज्जो के लायक। बच्चों की देखभाल करते रहना, यह भाव अवधी 'ताड़ियत रहियो' में है किन्तु संस्कृत ताड़ना में नहीं है। अवधी ताड़ना में एक चिंता, एक खयाल, एक अवेक्षा का भाव है। यह तुलसी की चित्तवृत्ति के अनुकूल भी है। उस चित्तवृत्ति के जिसने सीता, निषाद, हनुमान जैसे पात्रों के पुनर्सृजन में हृदय का पूरा सत्व उड़ेल दिया था।■

भूपेन्द्र कुमार दवे

जन्म : २१ जुलाई १९४१. शिक्षा : बी.ई. आनर्स, एफ.आई.ई., कहानी और कविताओं का आकाशवाणी से प्रसारण. प्रकाशित कृतियाँ : ३ खंड काव्य, १ उपन्यास, ५ काव्य संग्रह, २ गज़ल संग्रह, ७ कहानी संग्रह एवं २ लघुकथा संग्रह. मध्यप्रदेश विद्युत मंडल द्वारा कथा सम्मान. त्रिवेणी परिषद द्वारा उषा देवी मित्रा अलंकरण प्राप्त. संप्रति : भूतपूर्व कार्यपालन निदेशक, मध्यप्रदेश विद्युत मंडल.

सम्पर्क : b_k_dave@rediffmail.com

मंथन

अन्तरात्मा की भव्यता

THE GRANDEUR OF INNER SELF

PART 9

The Wiseman indulges not in mad rivalry. Ego is aggressive all the time and therefore those who attain some status even through mediation, sadhana or sidhi get caught in the cobweb of ego and soon drift away from the self.

ज्ञानी व्यक्ति बौरायी स्पर्धा में नहीं पड़ता। अहं हमेशा आक्रामक होता है और इसलिये वे जो कुछ प्रतिष्ठा मनन, साधना या सिद्धि द्वारा पा लेते हैं, अहं के मायाजाल में उलझ जाते है और शीघ्र अपनी आत्मा से दूर हो जाते हैं।

Egocentric person thus fails to attain anything and their entire life spent in meditation, sadhana or sidhi becomes a maddening pursuit for lust.

इस तरह अहंकारी व्यक्ति कुछ भी हासिल में असमर्थ हो जाता है और उनका सारा जीवन जो मनन, साधना या सिद्धि में गुजरा है, वासना की पागलपन दौड़ में परिणित हो जाता है।

Wiseman knows that real meditation leads to self-realisation, self-awakening and ultimately attainment of state of liberation, where the inner self radiates its brilliance for humanity.

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि वास्तविक मनन आत्मानुभूति, आत्मजागृति एवं अंततः मुक्ति की स्थिति प्राप्त कराता है जहाँ अंतरात्मा जनमानस के लिये अपना प्रखर प्रकाश फैलाती है।

Wiseman knows that actions that are egocentric, intention motivated or prone to built desires can never establish goodwill amongst the people.

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि कर्म जो अहं पर केन्द्रित होते हैं, इच्छा से प्रभावित होते हैं या इच्छा जागृत करने के आदी होते हैं, वे कभी भी लोगों का कल्याण नहीं कर सकते।

The glorious state where body, mind and intellect all merge with the inner self make the soul dynamic on par with the consciousness.

वह तेजस्वी स्थिति है जहाँ शरीर, मन व ज्ञान सभी अंतरात्मा में समाहित होते हैं, आत्मा को ब्रह्म के बराबर गतिवान बनाते हैं।

Dynamism means not only moving from darkness to light but also ensures leading all others from darkness to light.

गतिमान होने का अर्थ अंधकार से प्रकाश की ओर जाना ही नहीं है बल्कि सब का अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होना सुनिश्चित करना है।

Wiseman knows that he has to live as long as the body lingers and face the universe ruled by ignorance like a lamp that radiates rays dispelling darkness and motivates others to see the inner self as he is seeing.

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि उसे तब तक जीवित रहना है जब तक शरीर थमा है और अज्ञानता से संचालित जगत का सामना उस दीपक की तरह करना है जो अंधकार को दूर करने किरणों का विकिरण करता है और दूसरों को अंतरात्मा उसी तरह देखने प्रेरित करता है जैसा वह स्वयं करता है।

He knows how to hold the reins of ego, tame the horses of desire and lead the chariot of life move from darkness to light, ignoring the

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि सचेतना की स्थिति को मन, इन्द्रिय व शरीर अर्थ प्रदान करते हैं क्योंकि वे संपूर्ण जीवन भर सजगता की स्थिति में रहते हैं।

other lesser gains in his pursuit of the ultimate gain of consciousness.

वह जानता है कि ब्रह्म की अंततः उपलब्धि के प्रयास में अन्य लघुतर उपलब्धियों को अमान्यकर, अहं की लगाम को कैसे थामा जावे, इच्छाओं के घोड़ों को कैसे वश में लाया जावे और जीवन के रथ को अंधकार से प्रकाश में ले जाया जावे।

The Wiseman knows that nothing unreal exists if one concentrates only on real for when focus is on the inner self one perceives only real and nothing else.

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि किंचित भी असत नहीं रह पाता यदि कोई सत पर ही ध्यान केंद्रित करे क्योंकि जब वह अंतरात्मा पर ही केन्द्रीभूत होता है तो मात्र सत को देखता है और कुछ नहीं।

The Wiseman knows that the mind, senses and body give meaning to the state of realisation for all of them are in the state of awakeness during the entire life span.

ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि सचेतना की स्थिति को मन, इन्द्रिय व शरीर अर्थ प्रदान करते हैं क्योंकि वे संपूर्ण जीवन भर सजगता की स्थिति में रहते हैं।

In the state of realisation the body is in awaken-state and so are all its actions ready to perform the acts of God. Hence inaction at this stage is not in accordance the will of God.

सचेतन अवस्था में शरीर सजग रहता है और उसके सब कर्म भी ईश्वर के कृत्य करने तैयार रहते हैं। अतः इस स्थिति में अकर्म का होना ईश्वर की इच्छा के अनुरूप नहीं होता।

In this state self-alone is in action and therefore all actions are in perfect state. The desires arising due to senses, the ego sprouting in the mind and the impacts that the body feels have no interference with the actions.

इस स्थिति में मात्र आत्मा क्रियाशील रहती है और इसलिये सभी कर्म उत्कृष्ट अवस्था में होते हैं। इन्द्रियों से जागती इच्छाओं से, मन में पनपते अहं से एवं जो शरीर अनुभव करता है उस दबाव से कर्म में दखल नहीं पड़ता।

In this state the actions are like the rising sun. The sun rises at the appropriate time, but others rise with it or not, is not its concern or worry.

इस स्थिति में कर्म ऊगते सूरज समान होते हैं। सूरज सही समय पर ऊगता है, पर उसके साथ दूसरे उठते हैं या नहीं इसकी फिक्र या चिन्ता सूरज को नहीं रहती।

In this state thoughts and actions are divine for the man of realisation intends to think and act so as to lead a life of righteousness.

इस स्थिति में विचार व कर्म दैविक होते हैं क्योंकि सचेत व्यक्ति ऐसा सोचना व करना चाहता है ताकि वह धार्मिक जीवन जी सके।

There is no need of advice, no need for any outer control, no need for directives, no need of rules and laws to demonstrate the standards of living for the soul being part of the supreme knows all that even the richest scriptures cannot tell.

सलाह, किसी भी बाहरी नियंत्रण, मार्गदर्शन, जीने के सिद्धान्तों को बताने कानून व व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा वह सब कुछ जानती है जो श्रेष्ठतम ग्रंथ भी नहीं बता सकते।

In this state the thoughts and actions give no misgivings or misunderstanding even when examined through any standards of righteousness.

इस अवस्था में विचार व कर्म, चाहे वे किसी भी धर्म के मापदंड के अनुसान नापे जावें, कोई भी संदेह या शंका पैदा नहीं करते। ■

क्रमशः

महर्षि वेद व्यास

वैदिककालीन ऋषि वेद व्यास की रचना महाभारत की गणना भारतीय साहित्य-भंडार के सर्वश्रेष्ठ महाग्रंथों में की जाती है। इसमें पांडवों की कथा के साथ अनेक सुन्दर उपकथाएँ हैं तथा बीच-बीच में सूक्तियाँ एवं उपदेशों के उज्ज्वल रत्न भी जुड़े हुए हैं। महाभारत एक विशाल महासागर है जिसमें अनमोल मोती और रत्न भरे पड़े हैं। रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति और धार्मिक विचार के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।

सेर भर आटा

कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हो चुका था और युधिष्ठिर हस्तिनापुर की गद्दी पर आसीन हो चुके थे। महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेघ का महायज्ञ किया था जिसमें सारे भारत के राजा इकट्ठे हुये थे। यज्ञ बड़ी धूमधाम से हुआ। देश के कोने-कोने में इस बात की घोषणा कर दी गई थी कि जितने भी ब्राह्मण और दीन-दरिद्र लोग जो कुछ दान लेना चाहें वे राजाधिराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में पहुंचें। इस कारण यज्ञशाला में जहां महाराजाओं की जगमगाती भीड़ थी, वहां हर एक जाति और वर्ण के गरीब लोग भी दल-के-दल आकर दान ले जा रहे थे। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से और सुचारू रूप से यज्ञ संपन्न हुआ।

यज्ञ के अंतिम दिन अचानक एक बड़ा-सा नेवला यज्ञशाला के बीच में कहीं से आ खड़ा हुआ और बड़ी निर्भीकता के साथ उपस्थित लोगों को देखता हुआ ठहाका मारकर हंसने लगा। एक अदने-से नेवले को इस प्रकार मनुष्यों की तरह हंसते देखकर यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों के मन में भय-सा छा गया। वे शंकित हो उठे कि कहीं कोई भूत या पिशाच हमारे यज्ञ में विघ्न डालने तो नहीं आ गया! यज्ञ-मण्डप में उपस्थित दूसरे लोग भी चौंककर नेवले को ध्यान से देखने लगे।

> कुरुक्षेत्र में रहने वाले एक गरीब ब्राह्मण ने केवल एक सेर आटा अतिथि को दान में दिया था। लेकिन आप लोगों द्वारा इस यज्ञ में दिये गये अपार दान की उस गरीब ब्राह्मण द्वारा दिये गये एक सेर आटे के दान से बराबरी नहीं हो सकती।

नेवले का रूप अनूठा था। उसका आधा शरीर सुनहरा था और आधा साधारण नेवले का-सा। इस अद्‌भुत नेवले ने दूर-दूर से आये हुए राजा-महाराजाओं और विद्वान ब्राह्मणों की ओर देखकर निःसंकोच कहना शुरू किया।

"महामान्य सज्जनवृन्द! शायद आप लोग सोच रहे होंगे और मन में खुश हो रहे होंगे कि आपने कोई बड़ा भारी यज्ञ संपन्न किया है : परन्तु याद रखिये कि यह आपका केवल भ्रम है। इससे पहले एक बार एक महान यज्ञ हो चुका है। कुरुक्षेत्र में रहने वाले एक गरीब ब्राह्मण ने केवल एक सेर आटा अतिथि को दान में दिया था। लेकिन आप लोगों द्वारा इस यज्ञ में दिये गये अपार दान की उस गरीब ब्राह्मण द्वारा दिये गये एक सेर आटे के दान से बराबरी नहीं हो सकती। अतः हे उपस्थित सज्जनगण! मैं आपको चेतावनी देने आया हूं कि आप इस यज्ञ का और इसमें दिये गये दान का अपने मन में गर्व न कीजियेगा।"

नेवले को इस प्रकार बातें करते देखकर यज्ञ-मंडप में उपस्थित लोग आश्चर्य में आ गये। याचक ब्राह्मणों ने उस नेवले से पूछा- "हे नकुल, तुम कौन हो और हम लोगों की इस यज्ञशाला में तुम कहां से आये? इस यज्ञ की तुम इस प्रकार

पति का कर्तव्य है कि अपनी स्त्री का भरण-पोषण करे। जब जानवर और कीड़े-मकोड़े तक अपनी मादा का भरण-पोषण सावधानी के साथ करते हैं तो फिर मैं मनुष्य होकर अपनी सेवा करने वाली पत्नी का भरण-पोषण न करूं तो मेरा क्या भला होगा?

बुराई किस आधार पर कर रहे हो? यह महान अश्वमेध-यज्ञ शास्त्र-विहित सभी सामग्रियों एवं विधियों से किया गया है। इसमें तुम किस प्रकार दोष निकाल रहे हो? जो लोग इस यज्ञ में आये हैं उन सबकी उचित पूजा हुई है, उनका यथोचित सत्कार किया गया है। जो जितना चाहता था उसे उतना और उसी तरह का दान दिया गया। इस दान से सभी संतुष्ट हुए हैं। मंत्र-पाठ में भी त्रुटि नहीं हुई और अग्नि में आहुतियां भी उचित रीति से दी गई हैं। चारों वर्णों के लोग इससे पूर्ण रूप से संतुष्ट हुए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी क्या कारण है कि तुम इसे दोषयुक्त बता रहे हो? हमें समझाकर कहो।"

यह सुन फिर नेवला एक बार कहकहा लगाकर हंसा और बोलने लगा- "हे विप्रगण! मैंने जो कुछ कहा बिलकुल ठीक कहा है। न तो मेरा आप लोगों से कोई द्वेष है और न राजाधिराज युधिष्ठिर से ही मैं कोई ईर्ष्या करता हूं। फिर भी मैं जोर देकर कहता हूं कि आप लोगों ने धूमधाम से इतना धन खर्च करके जो यह महायज्ञ किया वह उस कुरुक्षेत्र वाले उस ब्राह्मण के दिये दान की समता कदापि नहीं कर सकता। दानवीर तो वही द्विजवर थे। अपने दान-पुण्य के फलस्वरूप उनको अपनी पत्नी, पुत्र और बहू के साथ विमान में बैठकर सदेह स्वर्ग सिधारते हुए मैंने अपनी आंखों से देखा था।" आप सब लोगों को मैं उसका सारा हाल सुनाता हूं-

इस महाभारत युद्ध से पहले, कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण रहा करते थे। खेत में बिखरे हुये अनाज के दानों को चुन-चुनकर इकट्ठा करके वह अपनी आजीविका चलाते थे। ब्राह्मण, उनकी पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधू चारों इसी उच्छ-वृत्ति से दिन गुजारते थे। उन्होंने अपना यह नियम बना रखा था कि जो कुछ अनाज इकट्ठा हो उसको बराबर बांटकर तीसरे पहर के शुरू होने से थोड़ी देर पहले खा लिया करें। किसी दिन नियत समय तक कोई भी अनाज नहीं मिलता था। जिस दिन ऐसा होता उस दिन सब उपवास कर लिया करते और अगले दिन अनाज मिलने पर नियत समय पर खा लेते थे।

उसी समय एक बार पानी न बरसने के कारण भारी अकाल पड़ा। सब लोग भूख-प्यास से तड़पने लगे। जब खेतों में कुछ उगता ही न था तो फसल भी नहीं कटती थी और जब फसल नहीं कटती तो अनाज के दाने बिखरते कहां से। इस कारण ब्राह्मण और उनके कुटुम्ब को लगातार कई दिनों तक भूखे रहना पड़ा।

एक दिन चारों जने भूखे-प्यासे धूप में तपते हुये दूर-दूर तक घूमे-फिरे तब कहीं जाकर सेर भर ज्वार के दाने इकट्ठे कर पाये। उनका आटा पीसा गया और यथा-विधि पूजा-पाठ आदि समाप्त होने पर उसको बराबर चार हिस्सों में बांटकर चारों व्यक्ति आनंद से खाने बैठे।

ठीक उसी समय कोई भूखा ब्राह्मण वहां आ पहुंचा। अतिथि को आया देख ब्राह्मण ने उठकर उसका विधिवत सत्कार किया। वे लोग इतने निर्मल-हृदय के थे कि स्वयं भूखे रहते हुए भी अतिथि का सत्कार करते हुए उन्होंने ऐसा अनुभव किया मानो उनका जीवन सार्थक हो गया। वह हर्ष से फूले न समाये। उन्होंने अतिथि से पूछा- "विप्रवर, मैं गरीब हूं। यह आटा नियमपूर्वक परिश्रम से कमाया हुआ है। कृपया आप इसका भोजन करें। आपका कल्याण हो।"

इतना कहकर ब्राह्मण ने अपने हिस्से का आटा अतिथि के सामने रख दिया और अतिथि ने उसे खा लिया। फिर भी उसकी भूख न मिटी। उसने कुछ कहा तो नहीं; लेकिन भूखी नजर से ब्राह्मण की ओर देखा।

ब्राह्मण ने देखा, अतिथि को संतोष नहीं हुआ। इससे वह चिंतित हो गये। उन्हें चिंतित देखकर उनकी पत्नी ने कहा- "नाथ, मेरे हिस्से का भी आटा अतिथि को खिला दीजिये। यदि उससे उन्हें संतोष हो गया तो मैं भी संतुष्ट हो जाऊंगी।"

पत्नी ने इतना कहकर अपने हिस्से का आटा पति के आगे रख दिया।

लेकिन ब्राह्मण ने पत्नी की बात न मानी। बोले- "सती! तुम्हारा कहना ठीक नहीं। पति का कर्तव्य है कि अपनी स्त्री का भरण-पोषण करे। जब जानवर और कीड़े-मकोड़े तक अपनी मादा का भरण-पोषण सावधानी के साथ करते हैं तो फिर मैं मनुष्य होकर अपनी सेवा करने वाली पत्नी का भरण-पोषण न करूं तो मेरा क्या भला होगा? प्रिये! तुम भूखी हो और तुम्हारी हड्डियां निकल आई हैं। शरीर पर मांस का लेश तक नहीं। ऐसी दशा में तुम्हें भूखी रखकर मैं अतिथि का सत्कार करने लग जाऊं तो मुझे उसका कौन-सा फल प्राप्त होगा?"

यह सुनकर पत्नी ने कहा- "नाथ! मैं आपकी सहधर्मिणी हूं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि सभी बातों में आपका-मेरा समान अधिकार है। जैसे आपने स्वयं भूखे रहते हुए भी अतिथि को अपने हिस्से का आटा खिलाया वैसे ही कृपा करके मेरा हिस्सा खिला दीजिये। मेरी यह प्रार्थना अस्वीकार न कीजिये।"

पत्नी के यों आग्रह करने पर ब्राह्मण ने उसके हिस्से का भी आटा अतिथि को खिला दिया। उसे खा चुकने पर भी अतिथि की भूख न मिटी। इस पर ब्राह्मण और भी उदास हो गया।

यह हाल देखकर ब्राह्मण के पुत्र ने कहा- "पिताजी! यह मेरे हिस्से का भी आटा लीजिये और अतिथि को खिला दीजिये।"

यह सुन पिता व्यथित होकर बोले- "बेटा! जो उम्र में बूढ़े हैं वे भूख सह सकते हैं। जवानों की भूख बड़ी तेज हुआ करती है। मेरा मन नहीं मानता कि तुम्हारा भी हिस्सा लेकर अतिथि को खिला दूं।"

पर पुत्र न माना और अनुरोध करके कहा- "पिताजी! पिता के बूढ़े हो जाने पर उनकी रक्षा करना पुत्र का ही कर्तव्य हो जाता है। यह भी बात नहीं कि पिता और पुत्र अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। आखिर पिता ही तो पुत्र बनता है। इसलिये मेरे हिस्से का आटा भी आप ही का है। आप मेरा हिस्सा स्वीकार कर लें और अधभूखे अतिथि को संतुष्ट करें।"

पिता ने हर्ष के साथ कहा- "पुत्र! धन्य है तुम्हें! तुम्हारे शील, इंद्रिय-दमन आदि हर बात से तुम पर मुझे गर्व हो सकता है, तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे भी हिस्से का आटा मैं स्वीकार करता हूं।" यह कहकर ब्राह्मण ने उसे लेकर अतिथि को खिला दिया।

पर उसे खाने के बाद भी अतिथि का पेट नहीं भरा। उसके मुख पर संतोष की झलक दिखाई न दी। यह देख ब्राह्मण बहुत लज्जित हो गये और किंकर्तव्यविमूढ़-से बैठे रहे।

उनका यह हाल देखकर उनकी पुत्र-वधू ने कहा- "पिताजी, मैं भी अपना हिस्सा अतिथिदेव के लिये देती हूं। लीजिए इसे भी अतिथि को खिला दीजिये। आपके आशीर्वाद से मेरा स्थायी कल्याण होगा।"

बहू की बात सुनकर ब्राह्मण बोले- "बेटी, अभी तुम लड़की हो। तकलीफ सहते-सहते तुम्हारा भी रंग फीका पड़ गया है और तुम दुबली हो गई हो। तुम्हें भूखी रहकर अतिथि को तुम्हारा कौर खिला दूं तो मैं धर्म का नाश करने वाला साबित हो जाऊंगा। तुम्हारा भूखों तड़पना मैं कैसे देख सकता हूं?"

पर पुत्र-वधू ने आग्रह करके कहा- "पिताजी, आप मेरे स्वामी के पिता हैं, गुरु के गुरु हैं और ईश्वर के ईश्वर हैं। मेरा आटा आपको स्वीकार करना ही होगा। मेरा यह शरीर आपकी सेवा ही के लिये है। आप मेरा आटा लेकर मुझे सद्‌गति प्राप्त करने के योग्य बनाइये।"

यह सुनकर ब्राह्मण के हर्ष की सीमा न रही। मुक्त कंठ वह बहू को आशीर्वाद देते हुए बोले- "सुशीला बेटी! पति की इच्छा पर चलने वाली सती! तुम्हें सारे सौभाग्य प्राप्त हों।"

> "आटे के जो कण उस स्थान पर बिखरे हुए थे, उनके लग जाने के कारण मेरे शरीर का आधा हिस्सा सुनहरा बनकर जगमगा उठा। इस पर मुझे अभिलाषा हुई कि शरीर का बाकी हिस्सा भी स्वर्णिम बन जाये तो क्या ही अच्छा हो?"

बहू के हिस्से का भी आटा अतिथि के आगे रख दिया गया। उसे खाकर अतिथि तृप्त हो गये और बहुत प्रसन्न हुए। वह बोले-

"आपने अपनी शक्ति के अनुकूल पवित्र हृदय से जो दान दिया उसे पाकर मैं बहुत संतुष्ट हुआ। आपका दिया दान अद्‌भुत है- निराला है। वह देखिये, देवता भी फूल बरसा रहे हैं। देवर्षिगण, देवता, गंधर्व आदि सब आपके दर्शन करने के लिये अपने अनुचरों के साथ विमानों में बैठे आकाश में इकट्ठे हो रहे हैं। आप अपनी पत्नी, पुत्र और बहू समेत अभी स्वर्ग सिधारेंगे। आपने जो दान दिया उससे आपको ही नहीं बल्कि आपके पूर्वजों को भी स्वर्गवास का भागय प्राप्त होगा। प्रायः देखा जाता है कि भूख से विवेक का नाश हो जाता है और धार्मिकता का विचार जाता रहता है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी भूख के मारे अस्थिर हो उठते हैं, धीरज गंवा देते हैं। आपने तो भूखे रहते हुये भी पुत्र-प्रेम से धर्म को ही अधिक समझा। सैकड़ों राजसूय-यज्ञ, अश्वमेध-यज्ञ भी आपके इस दान की बराबरी नहीं कर सकेंगे। आपका दान उससे कहीं बढ़कर है। वह देखिये, आपके लिये दैवी विमान तैयार खड़ा है। चलिये, स्वर्ग सिधारिये।" इतना कहकर विष्णु रूप अतिथिदेव अन्तर्धान हो गये।

अनाज चुनने की वृत्ति रखने वाले ब्राह्मण के स्वर्ग सिधारने का यह हाल सुनकार नेवले ने कहा- "विप्रगण, उन ब्राह्मण के दान में दिये गये ज्वार के आटे की सुवास सूंघते-सूंघते मेरा सिर सुनहरा बन गया। इसके बाद जहां आटा परोसा गया था, उस स्थान में भी मैं खूब लोटा। आटे के जो कण उस स्थान पर बिखरे हुए थे, उनके लग जाने के कारण मेरे शरीर का आधा हिस्सा सुनहरा बनकर जगमगा उठा। इस पर मुझे अभिलाषा हुई कि शरीर का बाकी हिस्सा भी स्वर्णिम बन जाये तो क्या ही अच्छा हो? इसी अभिलाषा से मैं तपोवनों और यज्ञशालाओं आदि की धूल में लोटता रहा। इतने में सुना कि यशस्वी धर्मराज ने महायज्ञ किया है। सुनते ही खुशी-खुशी यहां दौड़ आया। मुझे आशा थी कि यहां बाकी शरीर भी सुनहरा बन जायेगा। परन्तु मेरी आशा पूरी न हुई। इसीलिये कहता हूं कि आपका यह महान यज्ञ उस ब्राह्मण के सेर भर आटे की बराबरी नहीं कर सकता।" ■

प्रभुदयाल मिश्र

ग्राम बर्माडांग, जिला टीकमगढ़ मध्यप्रदेश में जन्म. सागर विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. महर्षि महेश योगी के साथ आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन के सिलसिले में संपूर्ण भारत यात्रा. मध्य एशिया के तजाकिस्तान और उजवेगिस्तान गणराज्यों में गीता और भारतीय योग पर व्याख्यान. विभिन्न आध्यात्मिक एवं साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध. प्रकाशित कृतियां : सौंदर्यलहरी काव्यानुवाद, सबके लिए गीता, उत्तर पथ, मैत्रेयी, वेद की कविता (वैदिक सूक्तों का काव्यान्तर), वेद की कहानियाँ, तंत्र दृष्टि और सौन्दर्य सृष्टि, योग के सात आध्यात्मिक नियम, ईश्वर का घर है संसार. सम्मान : मध्यप्रदेश संस्कृत अकादेमी द्वारा 'व्यास सम्मान', मध्यप्रदेश लेखक संघ द्वारा 'पुष्कर सम्मान', पेंग्वुन पब्लिशिंग हाउस द्वारा 'भारत एक्सीलेन्सी एवार्ड', वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा 'महाकवि केशव सम्मान'. सम्प्रति : अध्यक्ष, महर्षि अगस्त्य वैदिक संस्थानम्, भोपाल.

सम्पर्क : ३५, ईडन गार्डन, राजा भोज मार्ग, भोपाल-४६२०१६ ईमेल : prabhu.d.mishra@gmail.com, www.vishwatm.com

इन्द्र

(ऋगृवेद मंडल- २, सूक्त- ११, ऋषि- गृत्समद, देवता- इन्द्र, छंद- विराट् स्थाना, त्रिष्टुप्)

हरी नु इन्द्रा वाजयन्ता घृतश्चुतं स्वारमस्वार्ष्टाम्
वि समना भूमिर्प्रथिष्टाऽरस्त पर्वतश्चित् सरिष्यन्।७।

अश्व, गायें, ग्राम, रथ
सब का नियामक
दिवाकर, उषा का सर्जक
जल संवहनकर्ता एक जो
वह है इन्द्र, हे मानव।

नि पर्वतः साद्यप्रयुच्छन् त्सं मातृभिर्वावशानो अक्रान्
दूरे पारे वाणीं वर्धयन्त इन्द्रेषितां धमनिं प्रपथन् नि।८।

भूमि, नभ जिसको बुलाते
आत्म-रक्षा
श्रेष्ठ, लघु, अरि, मित्र
जिसके सभी आश्रित
समाश्रित-रथ
रण-विजय
वह है इन्द्र, हे मानव।

इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानम् मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्।९।

विजय जिसकी कृपा आश्रित
वीर पाता
युद्धरत जिसको बुलाते
आत्म-रक्षा
विश्व का जो स्वयं है प्रतिमान
अच्युत च्युत करता
वह है इन्द्र, हे मानव।

अरोरवीद वृष्णो अस्य वज्रा ऽमानुषं यान्मनुषो निजूर्वात्
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान् त्सुत्स्य।१०।

वज्र से जो मारता है
पापियों, अपराधियों को
दर्प जो सहता नहीं बलवान का
शत्रुहन्ता देव
है वह इन्द्र हे मानव।

पिबापिबेदिन्द्र शूर सोमं मन्दन्तु त्वा मंदिनः सुतासः
पृणन्तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्था सुतः पौर इन्द्रमाव।११।

छुपी पर्वत कंदरा से
वर्ष बीते
असुर शंबर को निकाला
जलों के अवरोधकर्ता
सुप्त, पसरे
असुर अहि को मारता जो
है वह इन्द्र, हे मानव।

त्वे इन्द्राप्यभूम विप्रा धियं वनेम ऋतया सपन्तः
अवस्यवो धीमहि प्रशस्ति सद्यस्ते रायो दावने स्याम।१२।

सप्त-धनुषी मेघ
नदियां सात सिरजीं
तथा रोहिण असुर मारा
वज्र निज
वृद्धिगत द्युलोक जिससे है
वह है इन्द्र, हे मानव।
■

उमेश ताम्बी

जन्म, नागपुर के समीप तुमसर शहर में उद्योगी परिवार में हुआ। नागपुर विश्वविद्यालय से १९८७ की प्रावीण्य सूची में अभियांत्रिकी स्नातक में प्रथम स्थान पाया। १९८९ में एडमिनिस्ट्रेशन में स्नातकोत्तर। १९९९ तक स्वयं के उद्योग-व्यवसाय में भारत में सफलता पाने के बाद अमेरिका पहुँचे। साफ्टवेयर के क्षेत्र में कार्यरत। फिलाडेल्फिया के पास परिवार के साथ रहते हैं। हिंदी भाषा के प्रति अटूट प्रेम, बचपन से ही हास्य और व्यंग्य कविताओं के प्रति रुचि रही है। कुछ समय से अनुभव और विचारों को साहित्य और काव्य का रूप देने का प्रयास शुरू किया है।

सम्पर्क : फिलाडेल्फिया, यू.एस.ए. ईमेल : umesh.tambi@gmail.com

कविता

ओ...बम, अब नहीं ओम बाबा

ओबामा पहुँचे भारत दोबारा
अद्‌भुत सुरक्षा कवच में दिल्ली-आगरा
दुनिया ने देखा सौहार्द्र हमारा
भौंचक्का रह गया पड़ोसी बेचारा!

वाणिज्य व्यापार की भी हुयी वार्ता
पुनर्जीवित हुयी परमाणु सन्धि की यात्रा
बड़े और पुराने लोकतंत्रों का मधुर मिलन
जैसे गंगा-मिसीसिपी का हो रहा संगम

मित्रता की जली मशाल
इन्द्रप्रस्थ में बनी मिसाल
समारोह-व्यवस्था थी अति विशाल
दोनों निडरों ने किया कमाल

शांति और भाईचारे की लहर
अवरोधों से भरा मोदी-ओबामा का
प्रारम्भिक सफ़र
भारतीय गणतंत्र दिवस परेड पर
दोनों की नज़र
ऐसा लगा मानो,
ख़त्म हुआ शीत-युद्धकालीन ज़हर!
■

वाणी मुरारका
कम्प्यूटर विज्ञान (साफ्टवेयर) में प्रशिक्षित। चित्रकला, लेखन, काव्य में रुचि। हिन्दी इंटरनेट पर विशेष योगदान : हिन्दी कविता का छंद और अलंकार विश्लेषण के लिए सॉफ़्टवेयर 'गीत गतिरूप' (http://manaskriti.com/geet-gatiroop) का निर्माण व इंटरनेट पर पहली हिन्दी वेबसाइट 'काव्यालय' (http://www.kaavyaalaya.org) का १९९७ में संस्थापन।
सम्पर्क : vani.murarka@gmail.com

मेरा तेरा वह मित्र

सर में दर्द है,
मौसम कुछ गर्म है -
हर माह के मित्र का
आने का पर्व है।

पेट को मरोड़ कर,
भावना निचोड़ कर,
मित्र मुझसे कह रहा -
स्वयं पर मनन कर।

पीड़ा का वक्त नहीं,
कोई यह श्राप नहीं,
उपहार यह प्रकृति का -
नारी का संताप नहीं।

धरती के चक्र सी,
प्रकृति की प्रतिमा सी,
मैं भी हूँ मढ़ी गई
शक्ति की बून्द सी।

सिर्फ़ बच्चे जनने में,
सुडौल बदन रहने में
ही इसका अर्थ नहीं।
शर्म नहीं यह कहने में।

अनन्त का यह द्वार है -
आत्मानुभूति औजार है!
अनुभव पूरा ग्रहण कर!
छिपा गहन उपहार है।

नारी तुझे निधि मिली
यही नहीं, और कई।
आत्म-तरस छोड़ कर
स्वयं को गढ़ नई!

तुझे रक्षा की नहीं
ज़रूरत, पर सृष्टि ही
खड़ी प्रतीक्षा आतुर है -
ओजस तेरा मिला नहीं!

आत्मविश्वास पताका धर
आ! सृष्टि की रचना कर!
■

निहार रंजन

बनगांव, जिला सहरसा, बिहार में जन्म। दिल्ली विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में स्नातक एवं स्नातकोत्तर की पढ़ाई के बाद अमेरिका आकर २०१२ में रसायनशास्त्र में ही पी.एच.डी.। वर्तमान में नए प्रतिजैविकों की खोज में शोधरत।

सम्पर्क : ranjan.nihar@gmail.com

कविता

गामवाली

वो मेरे साथ, हाथों में हाथ लिए
मंद अलसाये डग भरते
शानों पर लट बिखरा
होठों पर नीम-मुस्की लिए
सरेराह नहीं चल सकती

वो मेरे साथ 'हाई-पॉइंट' जाकर
अपने हाथों में 'थ्री वाइज मैन' लेकर
मेरे हाथों में 'रेड हेडेड स्लट्स' देकर
एक ही घूँट में अपने-मेरे जीवन-विष का
शमन नहीं कर सकती

ना ही मेरे साथ 'लकी लिप्स' पर सारी रात थिरक
'हाई पॉइंट' के बंद होते वक़्त
मदालसी आँखें और उत्ताप श्वास के साथ
कानों में शहद भरी ध्वनि लिए
प्रणय निमंत्रण दे सकती है
और इनकार पाकर, निर्विण्ण मन से
मुझे समलैंगिक कह सकती है

उसे मधु-प्लुत होने की इतनी परवाह नहीं
कि अपने बच्चे को छाती से आहार ना दे सके
फिर दो साल बाद तलाक देकर
उसे पिता के पास धकेल,
कीमती कार और तलाक के पैसे लेकर
इस तरह दूर हो जाए
कि १९ साल तक याद ना करे (शायद आजीवन!)

उसे इस तरह उन्मुक्तता की चाह भी नहीं
कि पैंसठ बरस की उम्र में सिलिकॉनी वक्षों के दम पर
कोई मेनका बन, कोई घृताची बन
किसी विश्वकर्मा को 'पीड़ित' करे
बहामास जाने वाली किसी 'क्रूज' पर
'वायग्रा' उन्मादित पुरुष के साथ
परिरंभ करे, केलि-कुलेल करे

क्योंकि वो गामवाली है!

गामवाली,
यानि एक भारतीय नारी
जनकसुता सीता की मिट्टी पर जन्मी
मिथिला की बेटी है
त्याग और अदम्य जीवटता की प्रतीक है

ये गामवाली बचपन से धर्मभीरु है
इसने ब्रम्हवैवर्तपुराण के आख्यान सुने है
कुंभीपाक के सजीव से चित्रों के दर्शन किये है
धर्म और अधर्म का ज्ञान पाया है
विद्यापति के गीत गाये हैं
और पुष्पवती होते ही
स्वामी के बारे में सोचा है
उसे पाया है, उसे पूजा है

यही उसके जीवन का आदि और अंत है
कोई नारीवाद नहीं है उसमें
किसी बराबरी की चाह नहीं है उसमें
उसमें बस त्याग है,
आपादमस्तक दुकूल में छिपा
सलज्ज चेहरा है, पुरनूर आँखें हैं
और यावज्जीवन की अभिलाषा
माँ बनकर, बहन बनकर, दादी बनकर
नानी बनकर, भाभी बनकर
कि उसके पास जो कुछ है वह बाँट देना है

सच्चरित्रता का पालन किये
बिना झूठे वादे किये
बिना झूठे बोल बोले
बिना झूठे आस दिए
बिना अपनी गलत तस्वीर पेश किये
एक बंद कमरे में, ढिबरी की रौशनी में
रात भर अन्धकार पीती है
सुबह अपने देह पर धंसे काँटों को ढँककर
मुझसे मुस्कुराकर बात करती है
कोई नहीं जानता कितने कांटे हैं उसकी देह में
दर्द और ताप का शमन कोई सीखे तो उस गामवाली से

इसलिए प्रसूता होकर भी
मुस्कुराते चेहरे के साथ
खेत में वो काम करती है
और अपने छोटे बच्चे को
दांत का दंश लगने तक
छाती की आखिरी बूँद तक पिलाती है

और हो सके तो किसी भूखे बच्चे को
अपने शीरखोर बच्चे से माफ़ी मांग
छाती से लगा लेती है
उसे अपने पुष्ट छातियों की परवाह नहीं है

उस गामवाली का देह
सुख के लिए नहीं है
उसकी संतानें हैं
पति है, समाज है
रामायण है, गीता है
सुख चाहती वो इन्हीं से
सुख मांगती वो इन्हीं से
इसलिए संयोगिनी या वियोगिनी होना
उसके लिए सम हैं
वह वासना के व्याल-पाश में
लिपटकर रह सकती है
उसके विषदंत तोड़ सकती है
उससे निकल सकती है
लेकिन मुझसे नहीं कह सकती
"वांट टू गो फॉर - 'डेजर्ट'"

इतना सारा धन, प्यास और झूठ
मानवीय संवेदनाएं ना छीन ले उससे
कुल्या होना न छीन ले उससे
धन्या से धृष्टा ना बना दे उसे
स्वकीया से परकीया ना बना दे उसे
इसीलिए वो अर्थ और काम को ताक पर रख
पैसठ बरस की उम्र में
धर्म और मोक्ष ढूँढती है
उसकी पहचान उसके देह से नहीं
उसके त्याग से है

इसी वजह से गामवाली पर
सरस गीत लिख पाना असंभव है
उस पर कविता लिख पाना मुश्किल है
त्याग की कवितायें बाज़ार में नहीं बिकती
त्याग से अवतंसित स्त्रियों का ये बाज़ार नहीं
बाज़ार में बिकती है रम्भा, मेनका
मदहोश करती अर्धनग्न सैंड्रा और रेबेका
पर मेरी रचनाओं में गामवाली जिंदा रहेगी
आखिर दूध का क़र्ज़ कौन उतार पाया है
■

डॉ. मुकेश कुमार

मध्यप्रदेश में जन्म। शिक्षा-एम.एस-सी., बीएमसीजे एवं मीडिया में पीएच.डी.। करीब ढाई दशकों से पत्रकारिता कर रहे हैं। अब तक छह न्यूज़ चैनल शुरू कर चुके हैं। दूरदर्शन के परख, फिलहाल, कही-अनकही, सुबह-सबेरे और आपकी बैठक जैसे कार्यक्रमों से जुड़े रहे। टीवी पत्रकारिता पर श्रृंखला और अँग्रेज़ी से हिंदी अनुवाद की अनेक पुस्तकें प्रकाशित। मीडिया पर हंस में लंबे समय तक स्तंभ लेखन एवं कहानियाँ प्रकाशित। पाखी, नया ज्ञानोदय और देशबंधु में नियमित स्तंभ लेखन। कविता संग्रह *साधो जग बौराना* प्रकाशित। वर्तमान में स्वतंत्र पत्रकारिता कर रहे हैं।

सम्पर्क : mukeshkabir@gmail.com

कविता

हाँ, हम सब हरामज़ादे हैं

पुरखों की कसम खाकर कहता हूँ-
कि हम सब हरामज़ादे हैं
आर्य, शक, हूण, मंगोल, मुगल, अंग्रेज,
द्रविड़, आदिवासी, गिरिजन, सुर-असुर
जाने किस-किस का रक्त
प्रवाहित हो रहा है हमारी शिराओं में
उसी मिश्रित रक्त से संचरित है हमारी काया
हाँ हम सब वर्णसंकर हैं।

पंच तत्वों को साक्षी मानकर कहता हूँ-
कि हम सब हरामज़ादे हैं!
गंगा, यमुना, ब्रम्हपुत्र, कावेरी से लेकर
वोल्गा, नील, दजला, फरात और थेम्स तक
असंख्य नदियों का पानी हिलोरें मारता है
हमारी कोशिकाओं में
उन्हीं से बने हैं हम कर्मठ, सतत् संघर्षशील।

सत्यनिष्ठा की शपथ लेकर कहता हूँ-
कि हम सब हरामज़ादे हैं!
जाने कितनी संस्कृतियों को हमने आत्मसात किया है
कितनी सभ्यताओं ने हमारे हृदय को सींचा है
हज़ारों वर्षों की लंबी यात्रा में
जाने कितनों ने छिड़के हैं बीज हमारी देह में
हमें बनाए रखा है निरंतर उर्वरा।

इस देश की थाती सिर-माथे रखते हुए कहता हूँ
कि हम सब हरामज़ादे हैं!
बुद्ध, महावीर, चार्वाक, आर्यभट्ट, कालिदास
कबीर, ग़ालिब, मार्क्स, गाँधी, अंबेडकर
हम सबके मानस-पुत्र हैं
तुम सबसे अधिक स्वस्थ एवं पवित्र हैं।

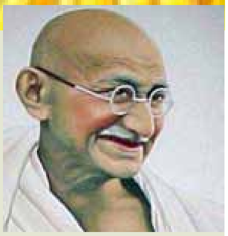

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ-
कि हम सब हरामज़ादे हैं
हम जन्मे हैं कई बार कई कोख से
हमें नहीं पता हम किसकी संतान हैं
इतना जानते हैं पर
जिसके होने का कोई प्रमाण नहीं
हम उस राम के वंशज नहीं
माफ़ करना रामभक्तों
हम रामज़ादे नहीं!

इस देश की आत्मा की सौगंध खाकर कहता हूँ-
कि हम सब हरामज़ादे हैं!
हम एक बाप की संतान नहीं
हममें शुद्ध रक्त नहीं मिलेगा
हमारे नाक-नक्श, कद-काठी, बात-बोली,
रहन-सहन, खान-पान, गान-ज्ञान
सबके सब गवाही देंगे
हमारा डीएन परीक्षण करवाकर देखा लो
गुणसूत्रों में मिलेंगे अकाट्य प्रमाण
रख दोगे तुम कुतर्कों के धनुष-बाण।

हे शुद्ध रक्तवादियों,
हे पवित्र संस्कृतिवादियों
हे ज्ञानियों-अज्ञानियों
हे साधु-साध्वियों
सुनो, सुनो, सुनो!
हर आम ओ ख़ास सुनो!
नर, मुनि, देवी, देवता
सब सुनो!
हम अनंत प्रसवों से गुज़रे
इस महादेश की जारज़ औलाद हैं
इसलिए डंके की चोट पर कहता हूँ
हम सब हरामज़ादे हैं।
हाँ, हम सब हरामज़ादे हैं।।

■

नीरज गोस्वामी

अगस्त १९५० को जम्मू में जन्म। अंतरजाल की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित। पेशे से इंजीनियर। अनेक विदेश यात्राएं कर चुके हैं। सम्प्रति - भूषण स्टील मुंबई में वाइस प्रेसिडेंट के पद पर कार्यरत।

सम्पर्क : neeraj1950@gmail.com

शायरी की बात

हमको तुम्हारी याद ने शायर बना दिया

शीरीं ज़बान में रोमांटिक शेर कहने वाले शायर अब गिनती के ही बचे हैं और ऐसे ही अनूठे शायर हैं डॉ. ए.के. श्रीवास्तव उर्फ़ नवाब शाहाबादी साहब। इनकी किताब 'थोड़ा-सा रूमानी हो लें हम' में लगभग एक सौ अस्सी लाजवाब ग़ज़लें संकलित हैं।

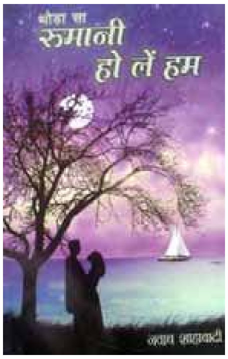

मोहब्बत का ज़ज्बा जगा कर के देखो
कभी दिल को तुम दिल बना कर के देखो
भुलाना हमें इतना आसाँ नहीं है
है आसाँ तो हमको भुला कर के देखो

ऐसे बाकमाल शेर कहने वाले शायर को कौन भुला सकता है? अब आप ही बताइए ऐसी शायरी आजकल कहाँ पढ़ने सुनने को मिलती है। ज़िन्दगी की तल्खियों ने शायरी की जबान को भी तल्ख़ कर दिया है। ये किताब कुछ हद तक उस तल्खी को दूर कर आपकी रूह को सुकून पहुंचाने का काम करती है। कभी-कभी मैंने देखा है अचानक पढ़ा एक शेर आपके मूड को बदल देता है। आप अवसाद से मुक्ति पा लेते हैं और वाह कह उठते हैं। तभी तो आज भी लोग उस एक शेर की तलाश में सारी-सारी रात जाग कर मुशायरा सुनते हैं।

देने चला है जान का नजराना देखिये
लिपटा है जा के शमअ से परवाना देखिये
मज़हब की इन किताबों ने आखिर दिया है क्या
एक बार पढ़ के प्यार का अफ़साना देखिये

नवाब शाहाबादी साहब पेशे से डाक्टर हैं। जनाब इब्राहिम 'अश्क' साहब फरमाते हैं : 'नवाब साहब ऐसे शायर हैं जो वक्त पड़ने पर सबके काम आते हैं। जो शख्स सबके काम आता है उसका मज़हब इंसानियत होता है।' ये इंसानियत उनकी पूरी शायरी में नज़र आती है।

आये तो गुलिस्तां में कुछ ऐसी बहार आये
फूलों को सुकूं आये काँटों को करार आये
लोगों ने गुज़ारी है, जैसी भी वहां गुज़री
कुछ हँस के गुज़ार आये कुछ रो के गुज़ार आये
'नव्वाब' कहीं सदमा पहुंचे न कोई उनको
हम जीती हुई बाज़ी ये सोच के हार आये

काटों के करार और जानबूझ के बाज़ी हारने की बातें करने वाले शायर किस कदर इंसानियत से भरे होंगे इसका अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं है। बकौल नवाब साहब 'कल-कल करते झरनों का संगीत, नीले आकाश में उड़ते हुए बादल, सुरमई साँझ, लहरों का गीत, कलरव करते पक्षी, मुस्कुराती हुई कलियाँ, अमराई की गंध, ओस में नहाई चांदनी आदि कितने बिम्ब मूड को बदल देते हैं। तल्खियाँ कम हो जाती हैं और मन ऐसे वातावरण में चला जाता है जहाँ आनंद की अनूभूति होती है।'

> फूल के पास भले ही खार होता हो लेकिन नवाब साहब की शायरी तो उस फूल की तरह है जिसमें रंग है खुशबू है और खार अगर कहीं है भी तो बहुत दूर है.

किसे देखने को हैं बेताब आँखें
जो खुलने लगी खिड़कियाँ धीरे-धीरे
जो मौजों के तेवर से वाकिफ़ नहीं हैं
डुबों देंगे वो कश्तियाँ धीरे-धीरे
बड़ा प्यार आया जो बालों पे मेरे
फिराने लगे उँगलियाँ धीरे-धीरे

'डायमंड पाकेट बुक्स' ने इस किताब को, जिसे राजेश राज जी ने संकलित किया है, बहुत आकर्षक कलेवर के साथ छापा है। पुस्तक को प्राप्त करने के लिये ओखला इंडस्ट्रियल एरिया दिल्ली स्थित डायमंड बुक्स को ०११-४१६११८६१ नंबर पर सूचित कर सकते हैं।■

नियमित तौर पर गर्भनाल की पीडीएफ भेजने के लिए हम आपके आभारी हैं। नये वर्ष की शुभकामना करते हैं।

डॉ. बमरुंग खामएक, बैंकाक, थाईलैंड

गर्भनाल का जनवरी-२०१५ अंक प्राप्त हुआ। विश्वात्मा सूर्य की नियमितता के समनुरूप गर्भनाल समय पालन का नया आयाम बना चुकी है। गुणवत्ता और रोचकता के नए क्षितिज इस अंक में भी छुए हैं।

ब्रजेन्द श्रीवास्तव, ग्वालियर

Sir to you and to all the brothers and sisters associated with the production and distribution of such a valued journal like Garbhanal and giving us the readers, an opportunity to link with our people living in foreign countries temporarily or permanently.

Articles like "Angrejo Kay talay say Bandh Bharat ka vikash" by Manjushree ji," "UPSE ka chal/prapancha" by. Govind ji, "apnee bhasa may jankaree na dena Annandale hai" and "A-in our country. panee-bhasa- may jankaree na dena annya hai" by C.S. Pravin Kumar Jain ji are articles having inspirational objective wishing the use of Hindi bhasa supersede "English language in Bharat, at the earliest.

However, like me there may be many who still feel that inspire of our respect and love for every dialect spoken by our people here, we need to pause and think about the role of Hindi and English pari pasu in our best notational interest today and tomorrow. Therefore as a neutral observer (having vernacular different from Hindi) before I give my opinion on the subject, I wish to quote one of our Co-citizen Shri M.V. Kamath's view from his article "Role of English in Contemporary India" (The writer, a senior columnist and former editor of Illustrated Weekly, wrote for the article, for "organiser- vol.66, No.2 , July 13 ,2014).

Now let me put my view also. So long the Hindi bhasis of the Hindi-belt/the Cow belt, eulogise Hindi language as their Matri-bhasa (which they have a right to too) it's all India acceptability could well be limited. Questions have arisen in the past that as to why non - Hindi vernacular group will accept other's Matri bhasa as a national language ignoring his/her own vernacular"? Take an example of the then, Chief Minister of Tamil Nadu Mrs Jaya lalithaa firing off a letter telling the then P.M. of Bharat that Home Minister's proposal to use Hindi in social media was against the letter and spirit of the Official Language Act1963. Also offended among others were the Chief Minister of Odisha. ours is a Federal state.

I also beg to differ with Shr Pravin Kumar Jain ji with his point that Hindi is a an easy language. May be for those whose the very vernacular has been Hindi. But for us the non-Hindi-vernacular group Hindi Byakaran is far more tougher than Bangla/English. I am sure most of the non-Hindi bhasis will cut a sorry figure when competing with Hindibhasi (having Hindi as their vernacular). written Hindi is a highly sophiscated language, more so than Bangla/English.

Dr. Mani Kumar Sharma, Siliguri

गर्भनाल के जनवरी-२०१५ अंक में मधु किश्वर जी का आलेख बहुत पसंद आया। भारत में उच्च शिक्षा से कई वर्षों से सम्बंधित होने के कारण मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि भारत के अधिकतर छात्र कोई भी भाषा ठीक से नहीं जानते हैं। इसके कारण भारत में शिक्षा का स्तर ठीक से विकसित नहीं हो पाता है। इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता है कि आज अंग्रेजी भारत की सम्पर्क भाषा (link language) है। कई सौ साल पहले भारत की सम्पर्क भाषा संस्कृत थी। संस्कृत के पुस्तक उत्तर भारत में देवनागरी लिपि में लिखे जाते थे और दक्षिण भारत में उनकी प्रांतीय लिपि में। पढ़ने पर दोनों एक जैसे लगते हैं- जैसे कि आजकल हिंदी को रोमन लिपि में लिख के transliterate किया जाता है। हिंदी को मजबूत करने के लिए उसको सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित करना होगा ताकि और अधिक भारतीय उसको कबूल कर लें। इसके लिए एक सरल प्रथम उपाय सुझाना चाहता हूँ। हिंदी में लिखे बच्चों के अच्छे कॉमिक बुक्स और कहानियों को भारत के प्रांतीय लिपि में transliterate किया जाये। ऐसे भारतीय बच्चे जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है, इस अनुवाद को पढ़कर हिंदी के और करीब आयेंगे। हिंदी को रोमन लिपी में transliterate करना दासता की निशानी है। हिंदी को गैर-देवनागरी भारतीय लिपियों में transliterate करना राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना है और हिंदी को सर्वमान्य बनाने की दिशा में एक ठोस कदम है।

राघबेन्द्र झा, ऑस्ट्रेलिया

सर्वप्रथम हिंदी के एक सर्वश्रेष्ठ पत्रिका को विश्व क्षितिज पर पहुंचाते हुए हिंदी की अलख जगाने के लिए आपको एवं संपादक मंडल की पूरी टीम को हार्दिक शुभकामनाएं एवं साधुवाद। उत्तम साज-सज्जा, आकर्षक कलेवर के साथ इस पत्रिका के सभी अंक संग्रहणीय हैं। यह पत्रिका अपने १००वें अंक की ओर अग्रसर हो रही है इस हेतु भी गर्भनाल से जुड़े हर पाठक को एवं हर लेखक एवं संपादक मंडल को शुभकामनाएं। गर्भनाल पत्रिका के सभी स्थायी स्तंभ अपने आप में बेजोड़ हैं। कृपया यह पत्रिका मेरे इमेल आईडी पर भी भेजने का कष्ट करें तो कृपा होगी।

रजनीश कुमार यादव, कोटा

गर्भनाल का जनवरी-२०१५ अंक प्राप्त हुआ। आभार। सुख-शान्ति, समृद्धि, प्रसन्नता, सफ़लता एवं आरोग्य की मंगलकामनाओं के साथ आप एवं आपके सम्पादकीय परिवार को नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनायें!

हिमकर श्याम

औघड़ उवाच - शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले, वतन पर मिटने वालों का यही बाकी निशाँ होगा... आशय यह कि हमारे कर्म ही हमें शाश्वत बनाते हैं।

चेला - सत्य वचन महाराज। लेकिन प्रभु, आज सीधे वैदिककाल से आधुनिक सन्दर्भ की व्याख्या कर रहे हैं।

औघड़ - अनंत ब्रह्माण्ड और समय का कोई ओर-छोर नहीं है। अच्छे और बुरे कर्म हरेक काल में हुए हैं।

चेला - हम भी कर्म-फल का किस्सा अनंतकाल से सुनते आ रहे हैं। 'जैसा कर, वैसा भर' टाइप के उपदेश हमारे कान सुनने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि वे अब 'ऐसे और वैसे' कर्म में फर्क नहीं कर पाते। अच्छे और बुरे कर्मों का फर्क लगभग मिट ही गया है। अब तो हरेक इंसान केवल दूसरों से अच्छे कामों को करते रहने की उम्मीद पालता है। खुद के कामों की तो कोई चर्चा भी नहीं करना चाहता। इस उम्मीद में कि अंत भला होगा, कोई कब तक भले काम करता रह सकता है, जबकि भाई लोग जुगाड़ और भाई-भतीजावाद की सीढ़ी का इस्तेमाल करके शहीदों में नाम दर्ज कराने में सफल हो रहे हैं।

औघड़ - धीरज धारण करके कर्म करते रहना चाहिये।

चेला - मगर कब तक? पेट हमारे शरीर में भी है गुरुदेव, अन्न-जल की हमें भी जरूरत महसूस होती है। हमारी पीठ में भी कभीकभार सुरसुरी होती है कि कोई उसे थपथपाए, अच्छे काम के लिये शाबाशी दे।

औघड़ - धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय। माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।

चेला - कब आयेगी प्रभु वो ऋतु जिसमें हमें भी तथाकथित फल और परसाद मिलेगा। गुरुदेव, हमें भी रसमलाई और मोदक अच्छे लगते हैं। हमारे पैरों को भी मुलायम और गुदगुदे कालीन पर चलने में सुख महसूस होता है। हमारा शरीर भी शीतकक्ष में बैठकर काम करने को ललकता है। हम भी बैठे-ठाले फितूरी घोड़े दौड़ाना चाहते हैं। हम भी हमारे बोदे और ठस दिमाग के कारनामों की वाहवाही सुनना चाहते हैं। आखिर किसे अच्छी नहीं लगती - यस सर, बेहतर है सर, हो जायेगा सर, करता हूं सर, देख लूंगा सर - जैसे सम्बोधनों की पुकार। ऐसे शहद घुले वाक्य हमारे कान भी सुनना चाहते हैं। हमारा जी भी चाहता है कि वह भी कभी फर्जी सपनों को पूरा करने के लिये आकाश मार्ग से स्वप्न देश की यात्रा पर निकले।

औघड़ - हम केवल कर्म करते रह सकते हैं, परिणाम पर हमारा वश नहीं।

चेला - झूठा है यह सिद्धांत और हमारी पुण्यभूमि को छोड़कर बाकी दुनिया पर लागू नहीं होता। सारे संसार के इंसानों को उनकी मेहनत का मेहनताना इसी जन्म में मिलता है और हमारे यहाँ अगले जन्म का चक्कर चला के रखा है। इस देश का यह अजीब विरोधाभास है कि भारत भूमि की कुल सम्पदा का एक तिहाई हिस्सा कुल तेरह लोगों के पास है। प्रभुजी, हम भी उन्हीं के जैसे काम करना चाहते हैं ताकि हम पर भी रुपयों-पैसों की बरसात हो सके। गुरुवर, हमारा नाम भी शहीदों की लिस्ट में जुड़वा दीजिये। हम भी परसादी पाने को तरस रहे हैं। देश की नामीगिरामी विभूतियाँ तक परसादी के मोह से उबर नहीं पाई हैं। जो सरेराह कल तक सत्ता के ठियों को गरिया रहे थे, परसादी और पुरस्कारों की विरुदावली में अपना नाम पाकर गद्गद् हो उठे हैं। कृतज्ञता में उनके आँसू ऐसे टपाटप झर रहे हैं कि खिलाफत में लिखे हुए को मानो वे अँसुअन के जल से धो-पौंछ देना चाहते हैं। लिखने-पढ़ने वालों की तमाशबीन कौम उन्हें 'कलम का सिपाही', 'आम आदमी के हितू' कहती फिरती थी और उनसे उम्मीद कर रही थी कि वे शहीदाना अंदाज में अभी बयान देंगे कि लो तुम्हारे दो कौड़ी के पुरस्कार को हम लात मारते हैं, लेकिन उन्होंने तो इस पुरस्कार को ऐसे गले लगा लिया है कि जैसे वह उनके सारे सृजन का सुफल हो।

औघड़ - संसार के स्वप्न में अच्छे-बुरे, ऊँचे-नीचे सभी की भागीदारी है।

चेला - हमें तो ऐसा प्रतीत हो रहा है महाराज कि जैसे इन्द्र के दरबार में दुर्वाशा को पुरस्कृत किया जा रहा हो ताकि वे मौके-बे-मौके किसी को भी गरियाने और लात मारने से बाज आयें। और दुर्वाशा हैं कि बलकल वस्त्र और मृगचर्म फेंके-फेंके फिर रहे हैं। अब वे इस जुगाड़ में हैं कि उन्हें अल्कापुरी में सीनियर 'ए' टाईप का क्वार्टर अलाट हो जाये ताकि वे भी सरकारी आवास में रहने का सुख भोग सकें। दूसरे इससे बाकियों पर सत्ता पुरुष की निकटता का रुतबा अलग जमता है। धीरे से वे यह भी चाहने लगेंगे कि कभीकभार मेनका, रम्भा या उर्वशीनुमा स्टेनो-टाइपिस्ट पार्टटाइम में उनसे डिक्टेशन भी ले लिया करें ताकि उनकी भी प्रवचनों की पोथी छपकर बाजार में आ जाये। वे भी अब प्रकाशक से रायल्टी की मोटी रकम एडवांस में पाने चाहते हैं।

औघड़ - मान-अपमान, हानि-लाभ, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन्हें समभाव से लेना चाहिये।

चेला - हम भी तो अपमान ही भुगत रहे हैं अब तक। दो कौड़ी की जिनमें अकल नहीं है ऐसे लोग सत्ता के कर्ता-धर्ता बने बैठे हैं और हम जैसे मारे शर्म के 'मर जाऊँ, माँगू नहीं' का राग अलाप रहे हैं। लेकिन कब तक भूखे पेट रहेंगे। पेट और पीठ की खातिर हमें भी कुछ चाहिये महाराज। इस बात का अब हमें पक्का यकीन हो गया है कि सारे सुख, सारी पदवियाँ और रेबड़ियाँ केवल अपनों को चीन्ह-चीन्ह कर बटेंगी सो महाराज काबिलियत गई भाड़ में, हमारी भी जुगाड़ लगवा दीजिये प्रभु। हमें भी कहीं का मनसबदार बनवा दीजिये। अब आपके ही नाम का सहारा है महाराज...■

atmaram.sharma@gmail.com